मानवता की धुरी

यह पुस्तक लेखक की अन्य कृतियों से काफी अलग-थलग है। सभवतः विष्णु प्रभाकरजी का यह वाक्य इस कृति की धुरी है—"गरीबी की गरिमा, सादगी का सौन्दर्य, संघर्ष का हर्ष, समता का स्वाद, और आस्था का आनन्द, ये सब हमारे आचरण से पतझर के पत्तों की तरह झर गये है।" लेखक ने कोशिश की है कि मनुष्य के जीवन का यह पतझर खत्म हो और वसत-का-वैभव पुनः प्रकट हो। उसका मानना है कि यह सब नैतिकता और चिन्तन से ही संभव है। भौतिक-समृद्धि के लिये होनेवाली भगदड/दौड-धूप मे इस तरह की कोई सम्भावना उसे नजर नहीं आती।

पूरी पुस्तक में झंकृत वाक्य है—"सौम्य, शान्त और तनाव रहित जीवन हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" अधिकार तो है परन्तु यदि आदमी कर्तव्य की जमीन पर खड़े हुए वगैर उसे पाना चाहेगा, वह विफल रहेगा।

'अहिसा और अपरिग्रह' मे लेखक ने जो समाधान सुझाये है, वे व्यावहारिक हैं और तमाम समस्या-वृत्तो को छूते है। भाषा सरल, शैली सरल, लेखन निश्छल, और इसीलिये सम्भावनाए प्रबल है। आशा करनी चाहिए कि यह पुस्तक खूब पढ़ी जाएगी और इसका, यदि यह फैली तो, जन-जीवन पर काफी स्वस्थ और रचनात्मक प्रभाव पड़ेगा।

पी एस. फाउण्डेशन ने 'मानवता की धुरी' को प्रकाशित करके लेखक के व्यक्तित्व का एक नूतन आयाम तो विस्तृत किया ही है, आपाधापी के इस युग मे समाज और व्यक्ति को आत्मावलोकन का एक सुखद/निष्कण्टक अवसर भी प्रदान किया है।

—डॉ. नेमीचन्द जैन
सम्पादक 'तीर्थंकर', इन्दौर

मानवता की धुरी

लेखक :
नीरज जैन

प्रकाशक :
प्राच्य श्रमण भारती
मुजफ्फरनगर

पुण्यार्जक : कंवर सैन जैन
रजत जैन–श्रीमती कल्पना जैन
विशाल जैन–श्रीमती पारुल जैन
निवेश, कोणार्क जैन
धारुहेड़ा, गुड़गाँव (हरियाणा)

नवम् सस्करण : सन् 2007, 2400 प्रतियाँ

मूल्य : 30/- रुपये मात्र (पुन: प्रकाशन हेतु)

प्राप्ति स्थान ·

- **प्राच्य श्रमण भारती**
  12/ए निकट जैन मन्दिर
  प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर- 251001 (उ०प्र०)

- **श्रुत संवर्द्धन संस्थान**
  प्रथम तल, 247 दिल्ली राड,
  मेरठ-250 002
  फोन 0121-2533707, 2528704

- **आचार्य शान्तिसागर 'छाणी' स्मृति ग्रंथमाला**
  बुढाना (मुजफ्फरनगर)

- **संस्कृति संरक्षण संस्थान**
  X/3349, गली न 1, रघुवरपुरा न 2,
  शांति मौहल्ला, गाधी नगर, दिल्ली-110031
  फोन . 9811350254, 9312243845

आशीर्वाद

सामान्यता मानव के लिए एक प्रश्न है कि जीवन कैसे बिताया जाए? वैसे तो जीवन यापन के लिए प्रकृति के कुछ नियम हैं जिसके अनुसार स्वाभाविक रूप से संसार के प्राणी अपना निर्वाह करते हैं। पशु की अपेक्षा मानव की यह विशेषता है पशु तो अपनी आँखों के सामने कोई मोहक रूप देखकर उसे पाने के लिए दौड़ पडता है और उसके प्रलोभन में पड़कर पीछे होने वाली ताड़ना पर दृष्टि नहीं डालता। उसे तो वर्तमान सुख चाहिए। इसके विपरीत मानव की दृष्टि क्षणिक उपभोग सुख पर, जो कि अत्यन्त तुच्छ और क्षुद्र है, कम ही मुग्ध होती है। यदि मुग्ध होती है तो उसका पशुत्व निवृत नहीं हुआ है। पूर्व सस्कारों और वर्तमान जन्म के अभ्यास और कुसंग से जब मानव की दृष्टि तमसाच्छन्न रहती है तब उसका पशुत्व अपना काम करता है और वह बुद्धि का प्रयोग न करके केवल मन को प्रिय लगने वाले विषयों के पीछे ही भागता रहता है, वह पशुत्व है।

मानव जीवन की सार्थकता इस बात पर निर्भर है कि उसमें कितनी उत्कृष्ट भावनायें भरी हैं। भावनाओं की उत्कृष्टता, सजीवता और प्रौढ़ता सत्कर्मों से मरखी जाती है। इसलिए सत्कर्मों को लोक और परलोक की सुख-शांति का श्रेष्ठ साधन माना गया है। सत्कर्म करते रहने से ही सद्भावनाएँ बलवती एवं परिपुष्ट होती हैं। निरन्तर कार्यान्वित होते रहने पर ही वे संस्कार का रूप धारण करती हैं। संस्कारों के आधार पर स्वभाव बनता है।

मानव जीवन को कल्पवृक्ष बनाने का श्रेय रचनात्मक विचारों का होता है। इस तथ्य को भली प्रकार समझते हुए, चिन्तन को रचनात्मक एवं उच्चस्तीरय विचारों में ही संलग्न रखना चाहिए। विचार मानव के जीवन में एक महान् शक्ति है। वही कर्म के रूप में परिणति होती है। परिस्थिति बनकर सामने आती है। बीज के अनुसार वृक्ष की उत्पत्ति होती है। मानव

जीवन में जैसे विचार रूपी बीज गुप्त मन में जमेंगे वैसे ही मानव के जीवन का निर्माण होगा।

मानव जीवन एक चित्र है, इसे इतना सुन्दर बनाया जाना चाहिए कि जिनकी भी दृष्टि इस चित्र पर पड़े, वह मन्त्र-मुग्ध हुए बिना न रहे। रास्ते पर फूल बिखेरते चलना कठिन है, पर यह किसी के लिए भी सरल है कि मधुर मुस्कान लुटाता चले। विनम्रता अर्थात् 'अहम्' विसर्जन की साधना करता रहे। व्यक्ति गठन एवं मानव जीवन के विकास की प्रक्रिया का शुभारम्भ विनयशीलता की अवधारणा से सहज ही बन पड़ता है। मानव हृदय को दोषमुक्त करने का प्रयत्न करता रहे ताकि संकीर्ण स्वार्थ बुद्धि का लोप हो जाने पर जीवन उत्कृष्टता की ओर बढ़ता रहे।

आज वैज्ञानिक प्रगति के युग में मानव का अवमूल्यन हो रहा है। मानव निरन्तर ह्रास की ओर बढ़ रहा है। उसका चारित्रिक पतन हो गया है। भौतिकवाद की अभिरूचि ने आध्यात्मवाद से उसका नाता तोड़ दिया है। सबंधों में तनाव व टकराव के कारण आज मानव मोह भंग की-सी स्थिति में गुजर रहा है। आज आवश्कता है मानव को उसकी स्थिति से अवगत कराने की। आज मानव अपने अस्तित्व को खो बैठा है। वह खोज करते-करते कहीं अलोप हो गया है। यही कारण है आज सर्वत्र मार-काट, लूटपाट का बोलबाला हो रहा है। आज पुनः मानव को अपने में उन गुणों को पैदा करने की आवश्यकता है जो उसे भातृत्व की दृष्टि प्रदान करे सके, उसके अन्दर दया, सेवा परोपकार, त्याग, मैत्री, सद्भावना जैसे भाव उत्पन्न कर सकें। उसे सभी अपने नजर आएँ ऐसा तभी सम्भव है जब मानव के अन्दर नैतिकता का विकास हो। नैतिकता के कारण ही मानव-मानव कहलाने का अधिकारी है।

आज मानव को उसका युग पुकार रहा है मानो वह कह रहा है मानव को निज स्वरूण में प्रतिष्ठित करो। वह सूखता जा रहा है, उसे हरा करो, पल्लवित-पुष्पित करो। मानव-मानव के बीच उठती जा रही असंख्य दीवारों को गिराओ। उसमें राष्ट्र-प्रेम जागृत करो। उसे इस योग्य बनाओ कि परिवार व समाज का अभिन्न अंग बनकर जिये। उसे पशु बनने से रोको। वह मानवता का पुजारी बने। कभी देवता मानव देह धारण करने को ललचाते थे, उसी देव दुर्लभ मानव देह को जीवन मूल्यों से सजाओ। उसकी धमनियों में विष घुल गया है। उसे अमृत पिलाओ। उसे अपनी सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठत करो। यह कल्पना विलास का युग नहीं है और न ही कला के नाम

पर पच्चीकारी का युग है। यह तो पुनर्निर्माण का युग है और मानव को सम्पूर्ण विनाश से बचाने को युग है।

यदि हम अपना पतन नहीं होने देना चाहते तो हमें अपना उद्धार अपने आप करना है। वस्तुतः हम ही अपने शत्रु और मित्र हैं। अतः जीवन में क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इसके लिए शास्त्र ही प्रमाण हैं। यथेच्छ आचरण मानव का महान् पतन है। जो मानव शास्त्रोक्त विधि को तिलाजलि देकर मनमाना आचरण करता है उसे न सफलता मिलती है और न ही सुख प्राप्त होता है और ही परमगति ही मिलती है। विवेक से मन पराकाष्ठा को पहुँचता है और इस अवस्था में उसका संतुलन बना रहता है। यदि मनुष्य कल्पवृक्ष बनकर अपनी छाया में मानवता को राहत देना चाहता है, फल-फूल देकर तुष्ट करना चाहता है, तो उसे पुरुषार्थ करना चाहिए।

आध्यात्म विज्ञान-विशारदों ने मानव जीवन की सार्थकता के लिए स्थान-स्थान पर इस बात पर जोर दिया है कि सब प्रकार के अहंकार का त्याग अपनी शक्ति-सामर्थ्य उपलब्धियो को उत्सर्ग करते रहने मे ही जीवन की यथार्थ प्रगति है। दूसरों के हित और कल्याण के लिए स्वयं कष्ट सहना और दूसरों की सेवा में संलग्न रहकर स्वार्थ आदि में मन न जाने देना ही तप है।

कर्म जहाँ शरीर है वहीं धर्म आत्मा है। मानव को दिशा प्रदान करता है। हमारे आध्यात्मिक अस्तित्व के लिए धर्म वैसा ही आवश्यक है जैसा पार्थिव अस्तित्व के लिए कर्म। मानव समाज जिसकी सहायता से एक सूत्र में बंधता है वही धर्म है और जिससे मानव समाज का विघटन होता है वही अधर्म है। मानव जीवन का सार तत्त्व धर्म है। शरीरधारियों के सब दुःख अधर्म से होते हैं और अक्षय सुख का संयोग धर्म से ही होता है। कहा भी है-

धर्म सदैव कर्त्तको येन जीवः सुखायते।

(प्रतिदन धर्म का पालन करना चाहिए जिससे जीव सुखी रहे।)

तथा

जन्तुमुद्धरते धर्मः पतन्तं दुःख संकटे।

(दुःख संकट में पड़े हुए प्राणी का उद्धार धर्म ही करता है।)

—उपाध्याय मुनि ज्ञानसागर

प्रकाशकीय

'प्राच्य श्रमण भारती' श्रुत-सेवा में संलग्न संस्था है। प्राचीन अनुपलब्ध या अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित करना उस संस्था का प्रमुख उद्देश्य है। जिन शासन को समृद्धि देने वाला नव-लेखन भी संस्था प्रकाशित और प्रसारित कर रही है।

परम् पूज्य दिगम्बर जैन मुनि, सराकोद्धारक शाकाहार-प्रर्वतक उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज का मंगल आशीर्वाद, संबल-प्रेरणा और साक्षात्-मार्गदर्शन इस संस्था को सदा प्राप्त हो रहा है जिससे अब तक एक सौ से अधिक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है।

जैन दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान, व्याख्यान वाचस्पति श्री नीरज जैन एक विख्यात, सिद्धहस्त लेखक हैं। उनकी पच्चीस-तीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

'मानवता की धुरी' उनकी अत्याधिक लोकप्रिय पुस्तक है। पूज्य उपाध्यायश्री उस पुस्तक को प्राय: नवागतुंक दर्शनार्थियों को प्रसाद रूप में प्रदान करते हैं। यह पुस्तक किसी विशेष धर्म का प्रचार नहीं करती वरन् मानव धर्म की संख्या व्याख्या प्रस्तुत करती है।

'मानवता की धुरी' के नवीन सस्करण को सुधि पाठकों को समर्पित करते हुए हम हर्षित हैं एवं लेखक श्री नीरज जैन जी के साथ ही प्रत्यक्ष या परोक्ष मे जिनका भी सहयोग रहा है सभी के हृदय से आभारी हैं।

मंत्री

प्राच्य श्रमण भारती

मुज्फ्फरनगर

प्रथम संस्करण की भूमिका

श्री यशपाल जैन

आज मानवीय मूल्यो का इतना ह्रास हो गया है कि वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन मे सर्वत्र असह्य विकृतियाँ उत्पन्न हो गई है। चारो ओर निराशा, कुण्ठा और सत्रास ही दिखाई देता है। आशा की बात यह है कि सद्विचारो को अकुरित करने और पुष्ट करने वाला साहित्य, जिसकी आज महती आवश्यक्ता है, कही न कही सृजित होता दिखाई दे जाता है। मुझे प्रसन्नता है कि चिन्तन को दिशा देने वाली यह पुस्तक एक ऐसी ही रचना है जो अत्यत उपयुक्त समय पर पाठको के हाथ मे पहुँच रही है।

यह पुस्तक बताती है कि जिस कुरुक्षेत्र का हाल हम महाभारत मे पढ़ते है वह तो यथार्थ मे प्रत्येक व्यक्ति के अतर मे विद्यमान है। गाधी जी ने 'गीता-बोध' मे लिखा है- 'कुरुक्षेत्र का युद्ध तो निमित्त मात्र है, सच्चा कुरुक्षेत्र तो हमारा अपना शरीर है। यही कुरुक्षेत्र है और यही धर्मक्षेत्र भी है। यदि हम इसे ईश्वर का निवास-स्थान समझे, और वैसा बनावें तो यह धर्मक्षेत्र है। इस क्षेत्र मे कुछ न कुछ लडाई नित्य चलती रहती है। अतर की वे सारी लडाइयाँ 'मेरे-तेरे' को लेकर होती हैं। अपने-पराये के बीच हमारे राग-द्वेष मे से पैदा होती है। 'राग-द्वेष' ही सारे अधर्म की जड हैं। जिसे अपना माना उसमे राग और जिसे पराया माना उसके प्रति बैर या द्वेष-भाव आ गया। इसलिये 'तेरे-मेरे' का भेद भुलाकर समत्व प्राप्त किया जाना चाहिये। या यो कहें कि 'राग-द्वेष' तजना चाहिये। कल्याण का मार्ग तो यही है, परन्तु कहना एक बात है, और कथनी के अनुसार आचरण करना दूसरी बात है। गीता हमे कथनी के अनुसार आचरण करने की भी शिक्षा देती है।

प्रस्तुत पुस्तक जहाँ यह बताती है कि मानव-मूल्य क्या हैं ? वही उन शास्वत मूल्यो के अनुसार चलने की प्रेरणा भी देती है। इसीलिये जैन दर्शन मे सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र, इन तीनो की त्रिवेणी को ही ज्ञातव्य और ध्यातव्य माना गया है। किसी महापुरुष ने ठीक ही कहा है -

'विचार कितने ही अच्छे क्यों न हों, तदनुसार आचरण के बिना वे कभी सार्थक सिद्ध नहीं हो सकते।'

मनुष्य सृष्टि का सबसे अधिक विकसित और विवेकशील प्राणी है। दु ख से अरुचि और सुख की आकाक्षा सभी जीवो मे है, परन्तु मनुष्य उसके लिये प्रयास भी करता है। मन के महासागर मे सकल्प का अर्जुन जब हताश होकर सघर्ष-क्षेत्र मे बैठ जाता है, तब वात्सल्य के वासुदेव, विश्व की वास्तविकता बताकर उसे उत्साह और शक्ति प्रदान करते हैं। सकल्पो को दृढता देने वाले ऐसे ही कालजयी परामर्श इस पुस्तक मे प्रस्तुत किये गये है।

लेखक ने हिसा को प्रमुख पाप सिद्ध करते हुए अहिसामय धर्म की प्रतिष्ठा करने का यत्न किया है। अहिंसा को नकारात्मक सिद्धान्त कहकर उपेक्षित कर दिया जाता है। लेखक ने इस दृष्टि की समीक्षा करते हुये अहिसा को सकारात्मक तथा व्यवहार्य जीवन-पद्धति के रूप मे प्रतिष्ठित किया है।

भाव-हिसा का विश्लेषण जैन-दर्शन की अपनी विशेषता है। उसकी पर्याप्त गवेषणा करते हुए हिसा के उद्योगी, विरोधी, आरम्भी और सकल्पी ये चार भेद बताकर, यह कहा है कि अकेले सकल्पी हिसा का त्याग कर देने पर मनुष्य 'अहिसक' कहलाने का अधिकारी हो जाता है। यह एक ऐसी दृष्टि है जो अहिसा को 'कायरता' और 'पलायनवाद' जैसे मिथ्या लाछनो से मुक्त करके मानवीय-मूल्यो को मानवता की धुरी के स्थान पर स्थापित करती है। अहिसा की यह सर्वाग, सक्षिप्त और सरल विवेचना प्रस्तुत करके उसे ही शेष कथन का साध्य बनाया गया है। सदाचरण की वही प्रमुख उपलब्धि है।

दूसरे अध्याय मे अणुव्रत की विवेचना करते हुये अपरिग्रह की विशद् किन्तु काम्य प्रस्तुति की गई है। अपरिग्रह के बिना अपने आपको समेटना सम्भव नही, और स्वय को समेटे बिना सुख, शान्ति या सतोष, किसी की भी उपलब्धि सम्भव नही।

परिग्रह की लिप्सा मे उलझे व्यक्ति की चेतना पर अविद्या का कोहरा छाया रहता है। इसी कारण वह न जगत को जान पाता है, न स्वय को। 'माया-महाठगनि' एक ऐसा छोटा सा अध्याय है जिसमें माया की कुछ अलग सी व्याख्या करके, मन की माया को ही जीव का बधन माना गया है।

ईश्वर-कर्तृत्व जैसे विवादास्पद विषय को आत्म-उत्सर्ग के मार्ग में अनावश्यक बताकर, प्रकृति की माया को अपने हित-अहित में अकार्यकारी मानकर, लेखक ने यह उपयोगी सूत्र दिया है कि- 'मन से उपजी हुई मेरे-तेरे की माया ही हमारे भव-भ्रमण का कारण है। मन की माया ही मनुष्य को संक्लेशित करती है। हमारे सुख-दुख के लिये हम स्वय उत्तरदायी है, कोई दूसरा नहीं।'

बारह-भावना इस पुस्तक का अतिम अध्याय है। इस अध्याय के माध्यम से लेखक ने सृष्टि के रहस्यो की सरलतम किन्तु वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। 'अनुप्रेक्षाओं' का यह चिन्तन यदि दृष्टि में रहे तो निश्चित ही जीवन मे निस्पृहता और अनाशक्ति का मगल प्रवेश हो सकता है।

हर काल-खण्ड मे, व्यक्ति की हर समस्या का समाधान जिसमे मिल सके, वही धर्म 'जीवन्त-धर्म' हो सकता है, वही मानव जीवन के लिये उपयोगी धर्म कहा जा सकता है। ऐसे धर्म को किसी पथ से बाँधना उसका अवमूल्यन करना है। पथ-निरपेक्ष हुये बिना धर्म अपनी सार्थकता सिद्ध नही कर सकता। इस पुस्तक मे ऐसे ही सर्व-हितकारी मानव-धर्म की व्याख्या की गई है।

आज के व्यस्त और संघर्ष-पूर्ण जीवन मे, मनुष्य के अत करण को सँवारने वाले ऐसे सरल-सुगम किन्तु समर्थ आलेख सामान्य पाठक के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। समाज के सभी वर्ग उससे लाभान्वित हो सकते है। दर्शन और साधना का विवेचन नीरस और बोझिल हो जाता है। इस कारण यह पाठक के हृदय तक नही पहुँच पाता। *'मानवता की धुरी'* के रूप मे नीरज जैन ने गहन-गम्भीर विषय को सरल और ग्राह्य शैली मे प्रस्तुत किया है। बीच-बीच मे महाभारत, भागवत्-गीता, रामायण, जैन आगम, गुरु ग्रन्थ साहब, तथा तुलसीदास, कबीर, भूधरदास, बुधजन और दौलतराम आदि जैन-जन-कवियो के उद्धरण देकर लेखक ने यह सिद्ध कर दिया है कि कल्याणकारी परामर्शो मे सर्वत्र मानव-मूल्यो की ही प्रतिष्ठा है।

सशक्त और सटीक उदाहरणो के माध्यम से अपनी बात को पाठक के मन मे गहराई तक पहुँचा देना लेखक की विशेषता है। वास्तव मे वे जहाँ एक अच्छे लेखक है, वही एक प्रभावक प्रवचनकार भी है। उनके धार्मिक प्रवचन नई पीढी को विशेष रूप से आकर्षित करते है और रुचि के साथ मनोयोगपूर्वक सुने जाते हैं। उनकी इस शैली ने इस पुस्तक को रुचिकर और सरस बनाया है। इस लोकोपयोगी सृजन के लिये नीरज जैन बधाई के पात्र हैं।

बधुवर रमेश जी ने अपने स्व पिताजी की स्मृति में प्रतिवर्ष एक अच्छी पुस्तक प्रकाशित करके पाठको तक पहुँचानेका सकल्प किया है। इस सकल्प की पूर्ति मे प्रथम वर्ष ही उन्हें 'मानवता की धुरी' जैसी श्रेष्ठ पुस्तक के प्रकाशन का योग मिला है इसके लिये लेखक और प्रकाशक दोनो को साधुवाद।

यह नवम् संस्करण

आज सर्वत्र व्यक्ति के जीवन में अशान्ति का ताण्डव दिखाई देता है। मनुष्य का जीवन दिन प्रति दिन संघर्षमय होता जा रहा है। वह आतंक और आकुलताओं के बीच जीने के लिये विवश हो रहा है। मनुष्य की दौड भौतिक समृद्धि के लिये समर्पित होकर रह गई है। अर्थ-लिप्सा की पूर्ति के लिये मनुष्य इस प्रकार अधीर हो गया है कि वह धन पाने के लिये हिसा, झूठ, चोरी और कुशील आदि सारे अनीति के कार्य और सारे निन्दनीय कर्म करने के लिये हर समय तैयार बैठा है।

विज्ञान के क्षेत्र में हमने जो उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं उनसे होना तो यह चाहिये था कि विज्ञान के सहारे मनुष्य अपने लिये सह-अस्तित्व, शान्ति और सुख-संतोष का वातावरण तैयार करता, परन्तु हो तो रहा है ठीक इसके विपरीत। भौतिक विज्ञान की समृद्धि को मनुष्य ने अराजकता, अनैतिकता, भ्रष्टाचार, हिसा और वासना-पूर्ति का साधन बना लिया है। कुल मिलाकर मानव समाज की यात्रा गहरे पतन की ओर हो रही है और विज्ञान उस पतन में सहायक की भूमिका निभा रहा है। प्राकृतिक विपदाओं, जंगली जानवरों, भूत-पिशाचो और आग तथा पानी से भय खाने वाला मनुष्य, या उन सब पर काबू पाने का साहस रखने वाला मनुष्य, आज स्वय मनुष्य की ओर से ही सर्वाधिक आशंकित, आतंकित और प्रताडित हो रहा है। मनुष्य की इन करतूतों से मानवता का चीर-हरण तो होता ही है, मनुजता के अस्तित्व को भी खतरा दिखाई देने लगा है।

विष्णु प्रभाकर ने एक जगह लिखा था - 'आज देश मे धन-वैभव के मूल्य बढ़ गये है और नैतिकता के मूल्य शून्य हो गये हैं। गरीबी की गरिमा, सादगी का सौन्दर्य, जीवन-संघर्षों का हर्ष, समता का स्वाद और अभावों का आनन्द, ये सब हमारे आचरण में से पतझर के पत्तों की तरह झर गये है। आज समाज की सारी अशान्ति और संक्लेश इसी वैचारिक पतझर के परिणाम हैं? ऐसी विषम परिस्थिति में नैतिक और धार्मिक विचार ही मनुष्य का पथ प्रदर्शन कर सकते हैं। यही चिन्तन मानवता का पथ-दीप बन सकता है।

अपने लक्ष्य के प्रति दृढ-संकल्प ही मनुष्य के आचार-विचार में मानवता की सहज सुगंध का संचार कर सकता है। विश्व व्यवस्था के रहस्यों का परिज्ञान ही उसके लिये 'आत्म-अवलोकन' का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। सृष्टि की रहस्यात्मकता पर से पर्दा उठते ही बुद्धि पर छाया हुआ अविद्या का अंधकार तिरोहित होने लगता है। आगे के पृष्ठों पर विश्व-व्यवस्था की यही अनुभव-गम्य व्याख्याएँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।
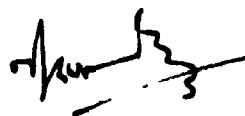
जो लोग जीवन को निरुद्देश्य पद्धति से, बिना कोई दिशा दिये जीना चाहते हैं, वे अपने आप को तो अर्थहीन बनाते ही हैं, समाज के सामने भी अहितकर परम्पराओ की सौगातें छोड़ जाते हैं। मनुष्य जीवन सृष्टि का सर्वोत्तम वरदान है। इसे सार्थक रुप से बिताया जाना चाहिये। स्वहित और परहित में ही जीवन की सार्थकता है। इस पुस्तक में मुख्य रुप से यही मेरा कथ्य है। 'भय-रहित और तनाव रहित जीवन हमारा जन्मसिद्ध अधि कार है' इस घोष का समर्थन ही मेरा काम्य है।

यह मेरा सौभाग्य है कि मेरी यह कृति परम पूज्य संत उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज की प्रेरणा से प्रसाद रुप में वितरित होती रहती है। पूज्य उपाध्यायश्री सरल, निस्पृह, निराडम्बर, निष्कांक्ष और निस्संग दिगम्बर सत है। ज्ञानाराधना और सार्थक साहित्य के पुनरुद्धार, प्रसार तथा प्रचार की प्रबल प्रेरणा उनके द्वारा समाज को मिलती है। विद्वानों के प्रति सरस वात्सल्य उनका विशेष गुण है। उन्हीं परम गुरु के आशीर्वाद से 'मानवता की धुरी' का यह नवम् संस्करण, परम पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के सागर वर्षायोग के उपलक्ष्य में प्रकाशित होकर आज आपके हाथों में पहुँच रहा है।

किसी पुस्तक के पन्द्रह वर्षों में नौ संस्करण उसकी लोक-प्रियता का प्रमाण है। इस पर गौरवानुभवन करते हुए मैं इस नवीन संस्करण के प्रकाशन के लिये 'प्राच्य श्रमण भारती' के सचालक मण्डल का आभारी हूँ।

गुरु चरणानुरागी,

शान्ति सदन, सतना
10 दिसम्बर, 2006

अनुक्रमणिका

अपने अपने कुरुक्षेत्र

कुरुवंश की दो शाखाओ, कौरवो और पाण्डवो के बीच वैमनस्य की खाई प्रतिक्षण चौडी होती जा रही थी। दोनो के बीच विनाशकारी महायुद्ध की भूमिका प्राय बन चुकी थी। विप्लव का बिगुल बजाने के लिये अनेक कण्ठ उतावले हो रहे थे।

ऐसे विषम वातावरण मे एक व्यक्ति, अकेला एक व्यक्ति, चिन्तित और बेचैन होकर इस युद्ध को टालने का, और शान्ति स्थापित करने का उपाय ढूढ रहा था। इस युद्ध की सम्भावना के साथ वह महापुरुष उसके परिणामो को भी अपनी कल्पना मे साक्षात् देख रहा था। यही उसकी चिन्ता और बेचैनी का कारण था।

उस महापुरुष का नाम था वासुदेव कृष्ण।

पाण्डव युद्ध नही चाहते थे। अपने वश के विनाश को निमत्रित करना और अपने ही हाथो अपने आत्मीय जनो का प्राण-हरण करना उन्हे तनिक भी प्रिय नही था। किसी को नही होना चाहिये, परन्तु उसी कुरुवश के उद्धत, असयमित और अहकारी कौरव इस आत्मघाती अनुष्ठान को न्यौतने मे ही अपने पौरुष की सार्थकता देखने लगे थे।

घृत की आहुतियाँ यज्ञ की अग्निज्वाला को जिस प्रकार प्रज्वलित करती है, उसी प्रकार इस ईर्षा की अनवरत आहुतियाँ कौरवों के अहकार की ज्वालाओ को प्रतिक्षण उत्तेजित कर रही थीं।

पाण्डवो के समुदाय मे वासुदेव श्रीकृष्ण को सम्मान प्राप्त था। वहां उनका परामर्श सुना और माना जाता था। युद्ध की विभीषिका से कुरुवश को बचाने का अभिप्राय लेकर जब श्रीकृष्ण शान्तिदूत के रूप में कौरव-सभा में जाने को प्रस्तुत हुये तब सधि-वार्ता के लिये पाण्डवों ने उन्हे अपनी ओर से सारे अधिकार समर्पित कर दिये थे।

पाण्डवों के मन मे कोई हठाग्रह नहीं था। कृष्ण की तरह वे भी अपने वश की रक्षा के लिये, और स्वजनों की जीवन-रक्षा के लिये चिन्तित थे। विनाश की इस भँवर से बचाकर ही वे कुरुवंश की नाव, को आगे खेना चाहते थे। इसीलिये उन्होने अपने आपको 'कृष्णार्पित'

कर दिया था। वासुदेव कृष्ण के द्वारा सुझाया गया कोई भी विकल्प स्वीकार करने के लिये वे तैयार थे।

दूसरे पक्ष की स्थिति इसके ठीक विपरीत थी। कौरव-पक्ष मे वासुदेव कृष्ण का परामर्श मानना तो दूर की बात, सम्मान-पूर्वक सुना भी नहीं गया। अपनी दुराकाँक्षाओ की पूर्ति के लिये हर प्रकार की अनीति पर आमादा, अहकारी कौरवों को, कृष्ण बहुत बौने दिखाई दिये। उनकी मत्रणा सुनने योग्य नहीं समझी गई। उनके सत्परामर्शों का मखौल उडाया गया और भाँति-भाँति से उनका तिरस्कार किया गया। उन्हे बन्दी बनाने की धमकी भी दी गई।

कृष्ण की मान्यता थी कि पाण्डवों के अधिकारो की बलि देकर भी, निकल सके तो किसी प्रकार समझौते का मार्ग निकालना चाहिये। जैसे बने तैसे वे इस महायुद्ध को टालकर आर्यावर्त को इस महाविनाश से बचाने के लिये बेचैन थे।

यही कारण था कि वासुदेव ने धृतराष्ट्र से, जो वास्तव मे एक स्थानापन्न नरेश था, सिहासन खाली कराने का प्रस्ताव न करके, पाण्डवो के लिये मात्र आधे राज्य का ही प्रस्ताव रखा था। सधि-वार्ता के अतिम दौर तक युद्ध को टालना ही उनका एकमात्र अभिप्राय बना रहा। यह कृष्ण की सदाशयता, सहिष्णुता और शान्ति-प्रियता का प्रतीक था। उन्होने कौरव-सभा में अपने आने का अभिप्राय स्पष्ट करते हुये कहा था- 'हे भारत! कौरवो और पाण्डवों मे योद्धाओ का प्राणनाश किये बिना ही शान्ति हो जाये, यही प्रयत्न करने, यही याचना करने के लिये, मै इस सभा मे आया हूँ।'' -

कुरुणां पाण्डवानां च शम. स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणां एतद् याचितुमागत ॥

-महाभारत, 93/3

परन्तु अहकार की अंतर्गर्जना से बहरे कानों में शान्ति-प्रस्ताव की शब्दावली प्रवेश ही नही कर पाई। सौजन्य-रहित और अपमानित करने वाले शब्दो से श्रीकृष्ण का स्वागत हुआ। उस दिन उस सभा मे विफलता ही वासुदेव को मिली।

कृष्ण स्वयं अतिशय पराक्रमी महावीर थे। परन्तु जहाँ पारिवारिक कलह के द्वारा वंश का ही विनाश होने की आशंका हो, वहाँ सारे

पूर्वाग्रह छोडकर, मानापमान को भी भुलाकर, एक सच्चे हितैषी के नाते उन्होने इस विनाश को टालने का शक्ति भर प्रयास किया था। जब सधि कराने मे सफलता नहीं मिली, युद्ध अनिवार्य हो गया, तब उन्होने शस्त्र-ग्रहण नहीं करने की प्रतिज्ञा लेकर उस युद्ध में भाग लिया।

वासुदेव का यही रूप उन्हे महाभारत के सभी पात्रो से ऊपर उठा देता है। यही उनका व्यक्तित्व भीष्म-पितामह के व्यक्तित्व से भी ऊँचा, आदरणीय और अनुकरणीय दिखाई देने लगता है। वे सहज ही संस्तुत्य लगने लगते है।

कौरवो की सभा विशाल थी। उसमे अनेक महर्षि, महारथी और पराक्रमी व्यक्ति उपस्थित थे, परन्तु उनमे एक भी ऐसा दूरदर्शी नही निकला जो अपनी बुद्धि के जागृत होने का प्रमाण देता। जो समय के सकेत को समझ पाता। प्राय वे सब दुर्योधन के अहंकार की आँधी मे डगमगा कर, विकलाग की भूमिका निभाने के लिये अभिशप्त थे।

उस सभा मे कोई क्रोधान्ध होकर नेत्रो की ज्योति खो बैठा था, किसी को घमण्ड ने बहरा बना दिया था। कोई जन्मजात नेत्रहीन था और किसी ने नेत्रों पर आकॉक्षाओं की पट्टी बाँध रखी थी। रिश्ते-नाते कुछ को बधन बनाकर जकडे बैठे थे और कुछ की निष्ठाए व्यसन बनकर समूचे वश को बलात् विनाश की ओर ढकेल रही थीं। लिप्सा ने उनमे अधिकाँश का विवेक हरण कर लिया था। जो शेष बचे थे, व्यामोह की बात-व्याधि ने उन्हे पगु या विकलाग बना दिया था। स्वस्थ्य मानसिकता और सबल सकल्प-शक्ति उस सभा मे किसी के पास नही थी। ऐसी दुराग्रह-ग्रस्त सभा मे वासुदेव की बात कौन सुनता ?

अंतिम प्रयास : विराट् का दर्शन -

श्री कृष्ण उस कौरव सभा मे एक-एक के भीतर सोया हुआ मानव जगाना चाहते थे। सबके विवेक को झकझोरना चाहते थे, परन्तु जब उन्हे इसमें सफलता नहीं मिली तब उन्होंने उसी सभा में अपना विराट्-रूप प्रदर्शित करके दुराग्रहो को तोडने का अंमित प्रयास किया, परन्तु उससे भी कोई लाभ नहीं हुआ। क्षण भर के लिये दुर्योधन के मन में भय तो व्याप्त हुआ, उसके माथे पर पसीना तो आया, परन्तु कृष्ण के कौरव-सभा के बाहर जाते ही उसका आतंक समाप्त हो गया। दूसरे

ही क्षण दुर्योधन उन्हे इन्द्रजालिया और छलिया कह कर उनका मखौल उड़ाने लगा ।

यहाँ यह स्मरण करे कि ऐसा विराट्-रूप श्रीकृष्ण ने एक बार और दिखाया था । युद्ध-भूमि मे अर्जुन की हताशा दूर करने के लिये, उसे अनुत्साह के अधकार से मुक्त करने के लिये, गीता का उपदेश देते हुए बीच मे उन्होने अर्जुन को विराट् रूप की एक झाँकी दिखाई थी । यहाँ कृष्ण को असफल नहीं होना पडा । अर्जुन पर उस दृश्य का वाँछित प्रभाव पडा । इसका कारण यह था कि दृश्य-दर्शन के पूर्व ही, वासुदेव के उपदेशो को हृदयगम करके, अर्जुन ने दृष्टि प्राप्त कर ली थी । भागवत के इन दोनो प्रसंगों को एक साथ स्मरण करके हम आँतरिक दृष्टि की महत्ता को भलीभाँति समझ सकते है ।

विराट् का दर्शन दुर्योधन के मन पर कोई प्रभाव न डाल सका इसमे किसी का कोई दोष नही था । कारण मात्र यह था कि दृश्य तो वहाँ था परन्तु देखने वाली दृष्टि नही थी । दृश्य को सही सदर्भ मे समझने के लिये सही दृष्टि जब तक प्राप्त नही होगी, तब तक हम दुनिया की ऊपरी चमक-दमक पर लुभाने वाले कोरे तमाशबीन, मात्र दर्शक ही बने रहेगे । उसकी वास्तविकता को नही समझ पायेंगे । दृष्टा नही बन पायेंगे । ससार को सही सदर्भ मे समझने के लिये दृष्टा होना आवश्यक है । मात्र दर्शक होना उसके लिये पर्याप्त नहीं होता ।

विराट् रूप का दर्शन-प्रसग कोई जादू या चमत्कार नही है । वह विश्व की सहज वास्तविकता ही है । हम सब का एक लम्बा भूतकाल होता है, एक क्षण का वर्तमान होता है और दीर्घकालीन भविष्य होता है । हमारी दृष्टि प्राय अपने वर्तमान तक ही सीमित होती है । बहुत हुआ तो हम अपने जन्म से लेकर मृत्यु तक अपने आपको, या इस जगत को देखना-जानना चाहते हैं । श्रीकृष्ण ने इसी विश्व-व्यवस्था को, उसके भूत-भविष्य-वर्तमान तीनो काल की परिणति सहित दिखाने का जो उपाय किया, उसी का नाम 'विराट्-रूप दर्शन' है ।

कौरवी दुराग्रह-

वासुदेव कृष्ण सही अर्थो में शान्ति दूत थे । उन्होने महाभारत का युद्ध टालने के लिये अपनी शक्ति भर सारे प्रयास किये । जब सफलता की कोई आशा न रही तब, कुरुवंश को सर्वनाश के कगार

पर खडा देखकर, वे द्रवीभूत हो उठे। उन्होने धृतराष्ट्र के सामने यहाँ तक याचना की कि- 'आप मात्र पॉच ग्राम ही दे दे, हम पाण्डवो को उतने मे ही सतुष्ट कर लेगे और यह वश-सघर्ष टल जायेगा।'

परन्तु कौरव-सभा मे किस के पास थे वे कान जो भविष्य की आहट सुन पाते। किसके पास थी वह दृष्टि जो आने वाले विनाश की ऑधी के सकेत लख पाती। सत् और असत् का विवेक तो उस सभा मे बहुत पहले ही तिरस्कृत और निष्कासित हो चुका था। इसीलिये तो दुर्योधन के मुख से श्रीकृष्ण को ऐसा दुराग्रही उत्तर सुनना पडा कि- माधव! सुई की नोक जितनी धरती को वेधती है, पाण्डवो के लिये उतनी धरती का परित्याग करने के लिये भी हम तैयार नही है-

यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण माधव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान्प्रति॥

-महाभारत 125/26

दुराग्रह से भरे इस उत्तर के उपरान्त कुरुक्षेत्र के मैदान मे जो घटित हुआ, उसे हम सब जानते है। हठाग्रह और विवेक-हीनता की वह कथा भिन्न-भिन्न माध्यमो से बार-बार दोहराई जा चुकी है और आज भी दोहराई जा रही है। उस सबको यहॉ पुन प्रस्तुत करने की आवश्यकता नही है।

परन्तु मेरी बात यहॉ समाप्त नही होती। वह तो यहाँ से प्रारम्भ होती है।

अपना-अपना महाभारत-

यह समझ लेना शायद ठीक नही होगा कि महाभारत की घटाऍ हजारो साल पहले हस्तिनापुर के आकाश मे घिरीं और अठारह दिन तक कुरुक्षेत्र पर बरस कर समाप्त हो गई। यदि हम समझ लें कि टकराव की विभीषिका और विनाश के आतक से हम सर्वथा मुक्त हो गये है तो यह समझ हमारे लिये अशुभ और अमगल हो सकती है।

हमारे सामने, नही, सामने नही, हमारे भीतर आज भी एक और युद्ध-भूमि सज रही है जो नितान्त हमारी अपनी है।

एक और महाभारत की भूमिका वहाँ निरन्तर बन रही है जिसका आतक, आठो याम आज हमारे मन-मस्तिष्क को अशान्त और आतकित किये हुये है। वह हमारा अपना महाभारत है।

विप्लव की वह चिनगारी किसी भी क्षण हमारे भीतर सुलग सकती है। उसकी लपटो मे हमारा सब कुछ स्वाहा हो सकता है।

इस त्रासदी का शिकार कोई अकेला नही होगा। न मै, न तुम, न वे। हम मे से कुछ लोग ही उसके शिकार हो ऐसा भी नही है।

पूरी मानवता इस त्रासदी का शिकार होने जा रही है।

हम सब इस आत्मघाती वृत्ति की व्यथा से व्यथित है। इस विनाशक आतक से आतकित है। हम सब के भविष्य पर विनाश के वे काले बादल मँडरा रहे है।

यदि हम आज और अभी चेतते नही है तो एक दिन यह महाभारत भी घटित होकर रहेगा। तब हम मे से कोई किसी की सहायता नही कर पायेगा, क्योंकि जिस महाभारत की हम बात कर रहे है वह तो हमारे भीतर घटित होगा। वह हमारा नितान्त अपना, एक दम 'एक्सक्लूसिव्ह' महाभारत होगा और उसके लिये हमारे पास होगे 'अपने-अपने कुरुक्षेत्र।'

आइये एक बार अपने भीतर झॉकने का साहस तो करे।

कैसा है हमारा हस्तिनापुर-

आज हमारी देह ही हमारा हस्तिनापुर है।

सशय मे डोलता मन उसका सिहासन है।

अधी वासनाओ का धृष्ट-धृतराष्ट्र न जाने कब से इस सिहासन का अनधिकृत स्वामी बना उस पर शासन कर रहा है।

दुराग्रह का दुर्योधन उसे पग-पग पर प्रभावित करता है, और स्वय नीति की दिशा मे कही, तनिक भी, झुकने के लिये तैयार नही है।

दुराचार के दु शासन ने आस्तिक्य की पाचाली को बडी पीडा दी है। बहुत अपमानित किया है।

कुण्ठा का कर्ण बहुत कठोर बन बैठा है। समय की पुकार उसके कानो तक पहुच ही नही पा रही। इससे बडी विडम्बना और हो भी क्या सकती है कि सूर्य का पुत्र, एक जन्मान्ध के बेटो की सेवा के लिये अभिशप्त है। उनके नियत्रण मे जी रहा है।

विद्रोह का विकर्ण अकेला पड़ गया है। उसका स्वर बलात् दबा दिया गया है। वह विवश होकर गूगा बना बैठा है।

पचशील के पाण्डव यहा से कब के निष्कासित हो चुके है।

सवेग की गान्धारी, नेत्रवती होते हुये भी दृष्टिहीन होकर जीने का सकल्प लिये बैठी है। उसकी आखो पर 'आत्म-विस्मृति' की पट्टी बँधी हुई है।

करुणा की कुन्ती, मातृत्व के आँचल को, लाँछन की लपटो मे झुलसता देखकर, भीतर ही भीतर विदग्ध हुई जा रही है।

विवेक के विदुर ने अपने आपको स्वेच्छा से निष्कासित कर लिया है। हठाग्रहो के नक्कारखाने में उसकी वाणी सुनने वाला कोई नही है।

प्रशम का पितामह, प्राणहीन-परम्पराओ का दास बना, किंकर्त्तव्य-विमूढ हो रहा है। उसका मनस्ताप प्रतिक्षण उसे जला रहा है।

परन्तु आशा के आकाश मे अनुत्साह का अधकार अभी पूरी तरह घिरा नही है। प्रकाश की किरणे सर्वथा विलीन नही हुई है। वह रजत-रेखा कही-कही अब भी दिखाई पडती रहती है।

आज भी वात्सल्य के वासुदेव हमारे लिये प्रेम और सह-अस्तित्व का परामर्श निरन्तर प्रस्तुत कर रहे है।

विनाश को टालने के लिये शान्ति-स्थापना के लिये, उनके चिन्तन प्रस्ताव दसो-दिशाओ से आकर बराबर हमारे हस्तिनापुर में गूँज रहे है।

कभी गीता और रामायण के माध्यम से वे प्रेरक-प्रस्ताव हम तक आ रहे है। कभी पुराणो और सहिताओ मे से प्रकट होकर वे पुण्य-परामर्श प्रस्तुत हो रहे है।

कही ऋषियो-मुनियो, और सतों की वाणी मे, उनके उपदेशो मे, वह शास्वत सन्देश हमे सुनाई दे रहा है। कही मदिर मे से भगवत् नाम का कीर्तन उस भावना की अनुगूँज बनकर चहुँदिश व्याप्त हो रहा हे। कही आरती का दीप, अपनी प्रकम्पित ज्योति-शिखा से वह प्रकाश-रेखा हम तक पहुँचा रहा है।

वासुदेव का परामर्श शास्वत है-

लगता है लोक-वत्सल वासुदेव, सहज मानवीय प्रेरणा का रूप धरकर, हमारे अन्तस मे बार-बार अवतरित हो रहे है। भाँति-भाँति से हमे अनुप्राणित करने का प्रयत्न कर रहे है। जनहित की भावना और लोक-कल्याण की कामना, वशी की टेर बनकर उनके सकल्प को हम तक पहुँचा रही है।

स्वर भले ही बदल गये हो, भाषा भले ही भिन्न लगती हो, पर हमारे अन्तस के महाभारत को टालने के लिये उनका परामर्श वही है। हमारे हित के लिये वात्सल्य का वासुदेव, कितने रूपो मे कितनी बार, हमारे सामने प्रस्तुत हो रहा है। उसकी मॉग भी वही है- 'हम मात्र पाँच ग्राम ही तज दे तो शेष सारा साम्राज्य हमारा है।'

उन्होंने तो उन पॉच ग्रामो का नाम भी बार-बार दोहराया है। हमे समझाने का प्रयास किया है कि वे ग्राम मात्र दरिद्रता के ही आगार हैं। खर-पतवार और कूडा-करकट के सिवा वहॉ कुछ भी तो उत्पन्न नहीं होता। कण्टको की कसक, वासना की बाढ उद्वेगो की ऑधी और पश्चाताप की दाह के सिवा उन ग्रामो से हमे न कुछ भी मिला है न मिल सकता है। यही उन ग्रामो की फसल है।

तब वे व्याधि-मूलक गॉव तज कर, विप्लव की विभीषिका से मुक्त होकर, जीने की समझदारी हम क्यो नही दिखा पाते? हम पहचानते क्यो नही कि कौन से है वे पॉच गॉव जिन पर से आसक्ति छोडकर, जिनसे मन मोडकर, हम अपने हस्तिनापुर को सुरक्षित और सुखी बना सकते हैं। अपने कुरुक्षेत्र को विस्फोट से बचा सकते हैं। वे ग्राम कही अन्यत्र नही, हमारे भीतर ही बसे हैं। उनके नाम है -

१ हिंसा **४. कुशील और**
२ झूठ **५. परिग्रह**
३. चोरी

कषायों से उपजते हैं पाप-

दार्शनिको ने कर्म के उदय को विकार का कारण माना है। यह कर्म राग-द्वेष-मोह रूप, अथवा मिथ्यात्व-क्रोध-मान-माया-लोभ रूप तो बताया गया है, परन्तु हिसा-झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह रूप कोई कर्म नही कहा गया। इससे स्पष्ट है कि ये पॉच पाप न बँधते है, न उदय में आते है। कर्म रूप मे जीव के साथ बॅधना और प्रारब्ध बनकर उदय मे आना कषायो मे ही होता है।

कषायो के उदय मे जीव के परिणाम हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह आदि रूप हो जाते है। अत कषायो से निवृत्ति ही पाप-त्याग का अभिप्राय है। पाँच व्रत धारण करके पाँच पापों को छोडने

का उपाय वास्तव में क्रोध-मान-माया-लोभ को छोडने का ही उपाय है। इन्ही चार कषायो मे से पाँच पाप उत्पन्न होते है और इन्ही से उनके प्रवाह को शक्ति प्राप्त होती है। यही कषाय जीव की शक्तियों को विकारी बनाकर उनका पाप-रूप परिणमन कराते हैं।

क्रोध-मन-माया-लोभ से प्रभावित मन-वचन-काय की विकृत-प्रवृत्तियॉ पाप है। जो पतन की ओर ले जाये वही तो पाप है। मन की इन्ही पाप-वृत्तियो को पाँच प्रकारो मे विभाजित करके मुख्यत पाप पॉच कहे गये है -

१. हिंसा : 'प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोणं हिंसा'

किसी के मन को क्लेश पहुँचाना और शरीर को पीडा पहुँचाना या प्राण हरण कर लेना हिसा है।

२. असत्य · 'प्रमत्त योगात् असदभिधानं अनृतम्'

अपने स्वार्थ के लिये किसी तथ्य को, जैसा वह नही था, या नही है वैसा निरूपित करना, असत् का पोषण करना और दूसरो को क्लेश या आघात पहुँचाने वाले शब्दो का प्रयोग करना असत्य है। छल-कपट, जालसाजी और मिलावट आदि भी इसी परिभाषा मे आते है।

३ चोरी 'प्रमत्त योगात् अदत्ताऽदानं अनृतम्'

अनधिकृत रूप से पराई वस्तु को ग्रहण करना, किसी के तन या धन मे लालच का भाव रखना तथा राजकीय नियमो का उल्लघन करके सम्पत्ति अर्जित करना चोरी है। टैक्स की हेराफेरी, घूसखोरी और स्मगलिग भी धोखाधडी है तथा चोरी के अतर्गत आती है।

४. कुशील · 'मैथुनं अब्रह्म'

समाज-मान्य दाम्पत्य की सीमा तोडकर किसी महिला या पुरुष के साथ वासनात्मक लगाव रखना, व्यभिचार मे लिप्त होना और परस्पर की मर्यादाओ तथा सौजन्य के विरुद्ध व्यवहार करना कुशील है।

५. परिग्रह : 'मूर्च्छा परिग्रहः'

धन सम्पदा तथा ऐसे ही अन्य पदार्थो के लिये मन में असीम आकाँक्षाएं पालना, अपनी आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संग्रह करना और अनीति-पूर्वक कमाई करना परिग्रह नाम का पाँचवा पाप है।

ये पाँचो पाप हमारे जीवन मे क्रियात्मक रूप से जितने हो पाते है, उससे कई गुना अधिक मानसिक रूप से होते रहते हैं। शरीर-बल की बहुत सी सीमाएँ है। परन्तु मन की गति की कोई सीमा नही है। इसलिये मन के माध्यम से अधिक पाप होते है।

इन पापमय विचारो से, अथवा अनैतिक सकल्पो से हम अपने लिये दुखद कर्मो का बन्ध कर लेते है। समय आने पर उनका फल हमे भोगना पडता है। इससे बचने का एक ही उपाय है कि हम पापमय चिन्तन से, और पाप की क्रियाओ से अपने आप को बचाने का प्रयास करे।

हम भला या बुरा जो कुछ भी करना चाहते है उसे एक नियमित पद्धत्ति से ही कर सकते है। पहले उस कृत्य के बारे मे हम मन मे विचार और सकल्प करते है, फिर वाणी तथा अन्य साधनो के द्वारा उस काम को करने की सयोजना करते है। अन्त मे शरीर तथा अन्य भौतिक साधनो से वह सकल्पित काम पूरा करते है। इस प्रकार हमारे सभी कर्म क्रमश मन, वाणी और शरीर के माध्यम से सम्पन्न होते है।

इस विश्लेषण से यह भी निश्चित हुआ कि जब विकारी प्रवृत्तियाँ हमारे जीवन मे उतरती हैं तब उनसे हमारे मन, वचन और काय तीनो दूषित होते है। इन्ही दोषो का फल अशुभ-कर्म के रूप में, या पाप के रूप मे हमारे साथ बॅध जाता है। वही कर्म परिपाक के समय 'प्रारब्ध' के रूप मे उदित होकर अपना फल देता है जिससे पुन विकारो का उदय होता है। इसलिये मन, वचन और काय, इन तीनो की वृत्तियों को पाप से रोकना हमारे हित मे है। पाप-वृत्तियो को रोकना ही धर्म है। उन्हें रोकने का सकल्प ही 'व्रत' है। उन्हे छोडने का नाम ही 'त्याग' है।

हमारे जीवन को कलकित करने वाले यही पॉच पाप है। हमारे भीतर उथल-पुथल मचाकर अशान्ति उपजाने वाले यही पॉच विकार है। समाज में तरह-तरह का प्रदूषण फैलाने वाले यही पाँच दुष्कृत्य है। जाने या अनजाने, ये पॉच पाप हमारे जीवन मे हम से हो रहे है। एक ही क्षण मे इन्हे पूरी तरह छोड देना सम्भव नही है, परन्तु इनका जहरीलापन यदि समझ मे आ जाये तो इनके छोडने का सकल्प तो अभी, इसी क्षण, यही किया जा सकता है।

जीवन के उत्कर्ष के लिये इन पाँच-दुष्प्रवत्तियो का विसर्जन अनिवार्य है। सही अर्थो मे मानव को 'मनुष्य' बनकर जीने की ये पॉच अनिवार्य शर्तें हैं। इन्ही पॉच शर्तो को मनवाने के लिये ससार मे पचास हजार से अधिक कानून बनाये गये है। जब, जिसे जहॉ अपराधी घोषित किया जाता है, इन पॉच मे से ही किसी के उल्लघन के कारण किया जाता है। मनुष्य के जीवन मे जो भी विसगतियाँ होती है वे इन पॉच मर्यादाओ के उल्लघन से ही प्रारभ होती हैं।

ये पॉच दुष्प्रवत्तियॉ जिसने छोड दी, या उन पर काबू पा लिया, ससार का कोई कानून उसे गुनहगार साबित नही कर सकता। उसका जीवन तनाव रहित, पवित्र, और सतोष से भरा-पूरा होगा।

अभिशप्त है मनुष्य -

प्रकृति का प्रत्येक प्राणी जिस रूप मे जन्म लेता है, उसी रूप मे उसका मरण निश्चित है। जो गाय के पेट से जन्मा वह जीवन भर बैल ही रहेगा। उसे गधा बन जाने का भय नही है और इसी जीवन मे घोडा या हाथी बनने का अवसर भी नही है। पक्षी का बच्चा जीवन भर पक्षी ही रहेगा। उसे मक्खी या मच्छर बन जाने का भय नही है, पर खरगोश या मगर-मच्छ बनने का अवसर भी नही है। पर मनुष्य के जीवन मे ऐसा कुछ निश्चित नही होता। उसके सामने अपने पुरुषार्थ के द्वारा उन्नति और अवनति की अनेक सम्भावनाएं निहित होती है। मनुस्मृति मे कहा गया है कि सृष्टि मे मनुष्य पर्याय पा लेना प्राणी की सर्वोच्च उपलब्धि है, ससार मे मनुष्य से बढकर कोई नहीं होता -

'नहिं मानुषेतर श्रेष्ठतरं हि किंचित्'।

वह बन सकता है नर से नारायण -

नारी की कोख से जन्म पाने से मनुष्य का जीवन भर 'मनुष्य' बने रहना सुनिश्चित नही होता। उसे मनुष्य बने रहने के लिये जीवनभर सावधान और प्रयासरत रहना पडता है। मन मे उपजने वाली हिंसा-झूठ-चोरी-व्यभिचार और लोभ तथा तृष्णा की पाशविक भावनाओ पर नियत्रण इन्ही अनिवार्य प्रयत्नो का नाम है। जो अपनी इन भावनाओ पर नियत्रण नहीं रख पाता उसे इसी चोले मे पशु या राक्षस बनते देर नही लगती। मनुष्य को एक महान वरदान भी प्राप्त है कि यदि वह अपनी उन अमानुषिक भावनाओ को पूरी तरह निर्मूल कर सके तो इसी जीवन मे नर से नारायण बनने का मार्ग उसके लिये खुला है।

कुसंस्कार ही कौरव हैं

ऐसा नही है कि हम अपने दोषो से अनजान हैं, या हम यह विनाशक सघर्ष टालना नही चाहते । हम कौरव नही है, परन्तु कुसस्कारो के सौ-सौ उदण्ड कौरव, जो जन्मान्तरो से हमारी मनोभूमि पर काबिज बने बैठे है, वे हमारी एक भी चलने नही देते । हम बार-बार चाह कर भी, अपने हित की किसी बात पर विचार तक नही कर पाते ।

कौरवो और पाण्डवो का सारा विवाद भूमि को लेकर ही तो था । अब भूमि की ही बात करे । क्या धरती कभी किसी की हुई है? यह तो शास्वत और नित्य है । इसका अस्तित्व कभी किसी के स्वामित्व का आकॉक्षी नही रहा ! मबके स्वामित्व खण्डित हो जाते है, पर पृथ्वी तो अखण्डित ही बनी रहती है । क्या कोई कभी इसे बॉट सका है ? नही ।

इस धरा का एक छोर 'कन्या-कुमारी' कहलाता है । वह बहुत सार्थक नाम है । बडे-बडे आक्रान्ताओ और विजेताओ ने इसकी छाती पर खडे होकर अपने आपको पृथ्वीपति घोषित किया तब इस धरा ने कुछ नही कहा । सब कुछ चुपचाप सहा । फिर एक दिन वे सब अशक्त और अबोध शिशु की तरह इसी की गोद मे सो गये । उनका सब कुछ इसी धरा पर धरा रह गया । इसने कभी किसी का स्वामित्व स्वीकार नही किया । इसका नाम ही यह घोषित करता रहा कि इसका कोई पति, कोई स्वामी, न कभी था, न है, न कभी हो सकेगा, यह मदा कुमारी है । तब क्या हमारे सारे विवाद मिथ्या नही है ?

यह हमारा भाग्य है कि हमारे मन मे, किसी न किसी रूप मे कृष्ण आज भी बोल रहे है, हमारा विदुर भी मरा नही है । परन्तु इन दोनो की वाणी इस सभा मे हर बार अनसुनी रह जाती है । उनके सारे कल्याणकारी परामर्श इन कुसस्कारो के कोलाहल मे विलीन हो जाते है । बार-बार गूँजते है पर हर बार खो जाते है । या फिर उनकी निश्चल प्रस्तावनाए कपट-कपाटो से रूद्ध हमारे कानो तक पहुॅच नही पाती । हमारे वर्तमान की यही त्रासदी है ।

हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, ये ग्राम तजकर यदि यह विनाशक-सघर्ष टाला जा सकता है, तो हमे वैसा करना ही चाहिये ।

इन्ही पाँच पाप-वृत्तियो के परिचय के साथ हम आगे बढ़ेंगे ।

पाँच पाप : पाँच ग्राम

हमने यह पहचानने का प्रयास किया है कि हिसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह ही वे पॉच पाप-ग्राम है जिनका त्याग करके हम अपने भीतर दहकते हुये कुरुक्षेत्र को 'शान्ति-क्षेत्र' में परिवर्तित कर सकते है ।

जिस प्रकार यह निश्चित किया गया था कि हम कौरव नही हैं, परन्तु कुसस्कारो के सौ-सौ कौरव, जो हमारी मनोभूमि पर काबिज होकर बैठे हैं, वे हमे कृष्ण का सदेश सुनने-मानने नहीं देते । उसी प्रकार यह निश्चित करना चहिये कि हम पापी नही हैं, परन्तु राग-द्वेष और मोह के कुसस्कार या अविद्या के कुसस्कार न जाने कब से हमारी भाव-भूमि पर अधिकार जमा कर बैठे हुये हैं । उन्ही के द्वारा इन पॉच पाप-वृत्तियो को प्रोत्साहन मिलता रहता है, और वे हमारे जीवन को दूषित करती रहती है ।

यहॉ यह सोचने से काम नही चलेगा कि 'हम तो पाप करते ही नही ।' अपने आपको सूक्ष्मता से परखेगे तो पता चलेगा कि पिछले जन्मो से बॉधे हुये पाप-कर्मो के कारण हमारे चेतन और अवचेतन मन मे निरतर पाप-वृत्तियो का उदय होता रहता है । जरा सी असावधानी होते ही वे सस्कार मन, वाणी और शरीर के स्तर पर प्रकट होकर हमे इन पाप-ग्रामो मे भटकाते रहते है । इनसे बचने के लिये इनके प्रति निरंतर जागरूकता और सावधानी की आवश्यकता है ।

पाप-भावनाओ से बचने के लिये, यह सावधानी कैसे प्राप्त की जा सकती है? इस सघर्ष-मय जीवन मे, अपनी वर्तमान परिस्थितियो मे, अपने आपको कैसे सयमित रखा जा सकता है? ये प्रश्न हम सबके प्रश्न है । आइये इन पर कुछ विचार करे ।

कहॉ से आते है पॉच पाप-

हिसा-झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह ये पाँचों पाप पहले हमारे मन की कषाय-भावनाओ मे से जन्म लेते है । फिर बाद मे वाणी और

देह के स्तर पर इनका प्रवर्तन होता है । कषाय-भाव मूलत चार कहे गये है- क्रोध-मान-माया और लोभ । यही विकारी प्रवृत्तियाँ मन मे सारे पापो को जन्म देती है ।

कब कौन सा पाप कितना भारी या हल्का होगा यह भी कषायो के आवेग की तीव्रता या मदता पर निर्भर करता है । हमारे परिणाम क्रोध और मान से जितने अधिक प्रभावित होगे, उतनी ही अधिक हिसा-झूठ आदि मे हमारी प्रवृत्ति होगी । माया और लोभ कषाय की तीव्रता के अनुरूप चोरी-कुशील और परिग्रह की प्रवृत्ति होगी । यह वर्गीकरण सामान्य रूप से किया गया है । वैसे चारो कषाय-भाव पॉचो पापो की उत्पत्ति मे समर्थ हैं और उनके कारण बनते हैं ।

कषाय भाव की जननी है अविद्या । अनादिकाल से अविद्या के सस्कार ही क्रोध-मान-माया-लोभ आदि विकारो की उत्पत्ति करके जीव को पाप-मार्ग पर ढकेलते रहते है । जैनाचार्यो ने अविद्या को मिथ्या-दर्शन, मिथ्यात्व और मोह के नाम से व्याख्यापित किया है । उनकी मान्यता है कि क्रोध-मान-माया-लोभ की चौकडी को मोह से ही स्थायित्व मिलता है । इन कषायो मे जीव को अनन्त-काल तक ससार परिभ्रमण की सामर्थ्य, मिथ्यात्व की सगति से ही प्राप्त होती है । इसी के प्रभाव से आत्म-विस्मृत होकर प्राणी अनादिकाल से ससार मे भटक रहा है-

मोह महा-मद पियौ अनादि,
भूल आपको भरमत वादि ।

-छहढाला/1/4

पॉच पापो की पहचान करके उनके त्याग का सकल्प तभी पूरा हो सकेगा जब हम उन्हे उत्पन्न करने वाली अविद्या और क्रोध-मान-माया-लोभ इन चार कषायो के बारे मे जानकारी प्राप्त कर ले ।

अविद्या ही दृष्टि-हीनता है-

अपने आपको पहचानने के लिये और अपने भीतर उठने वाली पाप-तरगो को शान्त करने के लिये सम्यक् और सयत 'दृष्टि' आवश्यक है । अविद्या के रहते, अथवा मिथ्यात्व के रहते, वह दृष्टि प्राप्त होना सम्भव नही है । वह दृष्टि प्राप्त कर लेना साधना के लिये सर्वाधिक महत्वपूर्ण है ।

कौरवो की सभा मे 'विराट रूप' दिखाकर अपनी बात समझाने का वासुदेव कृष्ण का प्रयत्न जिस कारण से निष्प्रभावी रहा था, अविद्या ही वह कारण था।

हमारी भी यही समस्या है। सारा दृश्यमान जगत हमारे सामने है। हम स्वय उत्कण्ठित-दर्शक बनकर उसके रहस्यो के भीतर झाँकना चाहते है। परन्तु 'दृष्टि' हमारे पास नही है। अविद्या के अनादि-कालीन सस्कारो ने यथार्थ को पहचानने वाली, हमारी दृष्टि को विकृत कर दिया है। हमारी आस्थाये खण्डित और विपरीत हो गई है। हमारी समझ तरह-तरह के द्वन्द्वो मे भ्रमित हो गई है। इसका कुफल यह हुआ है कि जो हमारे लिये हितकारी है, वह सब हमे अप्रिय लगने लगा है। और जो हमारे लिये निरतर अहित का हेतु है, हमें चारो गतियो मे भटकाने वाला है, वह सब हमे अत्यन्त प्रिय लगता है। हम उसे ही हितकर समझने लगे है।

सबसे पहले हमे यह दृष्टि प्राप्त करनी होगी जिसके द्वारा हम विद्या और अविद्या की पहचान कर सके। वह दृष्टि जिसके द्वारा हम सम्यक् और मिथ्या का विवेक कर सके। जिसके द्वारा हम हितकर और अहितकर का अन्तर देख सके। जिसके द्वारा हम अपनी निज की सम्पदाओ को, और अपने विकारो को निर्भ्रान्त होकर परख सके।

इसके लिये हमे दृढ सकल्प के साथ आगे बढकर अपने आपको अविद्या के कोहरे से बाहर निकालना होगा।

आत्म-विस्मृति ही अविद्या है-

एक कवि ने अविद्या को सारे प्रपचो की जड बताते हुये कहा है- 'मित्र सपनो की रगीनियो मे, इन्द्रजाल या जादू की विशेषताओ मे, बिजली की चमक मे, प्रकाश और छाया के विलास से बनते-बिगडते चित्रो मे, यत्र निर्मित दृश्यो मे और गगनपुरी में भी कोई चमत्कार नही है। यह सब तो किसी न किसी के नियम से बँधे, किसी एक स्थान पर, थोडे समय तक ही अपना विलास दिखाते हैं। चमत्कार देखना है तो तू इस अविद्या की ओर क्यो नहीं देखता जो सर्वत्र व्यापक और सदा विद्यमान होते हुये भी क्षण भर दिखाकर तत्काल नष्ट होने वाली चेष्टाओ से युक्त है।'

किं स्वप्नेन किंमिंद्रजालकलया विद्युद्विलासेन किं
छायाक्रीडनकेन किं किममुना यंत्रप्रयोगेण च ।
किं गंधर्वपुरेण तानि नियतान्यालोकत्रय व्यापिनी
लोके तत्क्षण दृष्टनष्टविलसच्चेष्ठामविद्यालताम् ॥

-कुमारकवि/आत्म-प्रबोध/38

अगले ही श्लोक मे कवि ने अविद्या के विस्तृत परिवार का उल्लेख किया है - अहकार इसी अविद्या का पुत्र है । ममता अहकार की पत्नी है । अपने और पराये सकल्प-विकल्प, इस दम्पत्ति की यही दो सताने है । सकल्प की पत्नी 'रति' और विकल्प की पत्नी का नाम 'अरति' है । सकल्प और रति से सुख नाम का पुत्र उत्पन्न होता है । विकल्प और अरति दुख नामक पुत्र को जन्म देते है ।

इस प्रकार यह अविद्या अपने विशाल और अमर परिवार के साथ निरतर हमारे भीतर फल-फूल रही है -

एतस्या ममता कलत्रसहिताहंकारनामात्मज
संकल्पौ स्वपरात्मकावथ तयो पुत्रौ ततश्चेतयो ।
भार्ये रत्यरति सुखासुखसुतप्रोद्भासिते इत्यहो
सन्तानेन सहाक्षयेण महती नन्दत्याविद्यां चिरम् ॥

-कुमारकवि/आत्म-प्रबोध/३५

जैनाचार्यो ने अविद्या को 'मोह' कहा । कषायो को राग-द्वेष कहा । राग यानी माया और लोभ । द्वेष यानी क्रोध और मान । इस प्रकार उनकी परिभाषा मे 'राग-द्वेष-मोह' मे सारे विकारो का समावेश हो गया । यही जीव के ससार-परिभ्रमण का मूल कारण है । इनका त्याग ही सबसे बडा पुरुषार्थ है ।

प्रसिद्ध मानवतावादी सत श्री गणेश वर्णी कहा करते थे -

'जानने के लिये तीन लोक है । चाहे जितना जानते रहो । त्यागने के लिये तीन ही विकार है - राग, द्वेष और मोह । ये छूट जाये तो ससार की सारी व्याधियॉ छूट जाये । ससार ही छूट जाये ।'

सिर चढकर बोलते हैं विकार-

लोग कई बार प्रेतबाधा की बात करते है । कहा जाता है कि एक प्रेतबाधा ऐसी होती है जिसके प्रभाव से किसी के घर-मकान मे तरह-तरह के उपद्रव होते है । आग लग जाना, पत्थर बरसने लगना,

बर्तन उलट-पलट हो जाना आदि उपद्रव अपने आप होते रहते है जिनका कोई कारण दिखाई नही देता ।

पर एक अन्य प्रकार की प्रेतबाधा भी कही जाती है जिसका प्रभाव सामग्री पर न होकर व्यक्ति के ऊपर होता है । जो इस बाधा से ग्रसित हो जाता है वह स्वय पागलो जैसा बर्ताव करने लगता है । अपना आपा भूल कर यद्वा-तद्वा प्रवृत्ति करता है । निरर्थक प्रलाप करता है । चाहे जिस पर प्यार और चाहे जिस पर गुस्सा जताने लगता है । कभी रोता है और कभी खिलखिलाता फिरता है । शरीर से भी विकृत चेष्ठाये करता है और अन्त मे थक कर गिर जाता है ।

हमारे साथ भी ससार मे दो प्रकार के उपद्रव होते है । जिन उपद्रवो का प्रभाव हमारे शरीर पर, और शरीर के माध्यम से शेष चराचर जगत पर पडता है, जिसके कारण सामग्री का सयोग-वियोग होता है, पदार्थो के रूप बनते-विगसते दिखाई देते है, वह सब पहले प्रकार का विकार है । कही होनहार से, कही हमारे पुरुषार्थ से, और कही मात्र सयोगो से जगत मे ये सारे तमाशे होते रहते है ।

इन विकारो से पृथक, राग-द्वेष-मोह से, अथवा मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ के जोर से जो उपद्रव हमारे साथ होते है, वे दूसरे प्रकार की प्रेतबाधा की तरह होते है । इन मानसिक विकारो का उद्वेग हमारे सिर पर चढकर बोलता है ।

मोह के नशे मे हमारा विवेक निष्क्रिय हो जाता है, और बुद्धि निष्प्रभावी हो जाती है । हम अपने ही जनो के साथ विचित्र बर्ताव करने लगते है । अहकार हो या क्रोध, मायाचारी हो या लालच, जब हम इनके वशीभूत होते है तब विक्षिप्त की तरह हमारा आचरण असतुलित हो जाता है । फिर अपना-पराया, बुरा-भला, उचित-अनुचित और करणीय-अकरणीय, कुछ भी हमे सूझता नही है । इन विकारो के चक्र मे फॅस कर हम निरंतर अपना अहित करते रहते है । हमारा वर्तमान विकृत हो जाता है और उसी के साथ भविष्य के लिये दुखद कर्मो का बंध निरन्तर होता रहता है ।

इन्ही विकारो से हमारे द्वारा दूसरो का विनाश भी होता रहता है । कई बार तो क्रोध या लोभ के अतिरेक मे व्यक्ति आत्मघात भी कर बैठता है । ससार मे अशान्ति या विक्षोभ उत्पन्न करने वाला जो ताण्डव होता है, वह सब इन्ही चार कषायो से प्रेरित है ।

कितना भटकाते हैं विकार-

विश्व-विजेता सिकन्दर भारतभूमि पर एक के बाद एक राज्यो को अपने अधीन करता हुआ आँधी की तरह बढता चला जा रहा था। सतो-फकीरो को अपने पास बुलाकर उनकी खातिर करना या उनके पास जाकर उनसे उपदेश सुनना भी उसका एक शौक था।

एक दिन जहाँ उसके खेमे गड रहे थे, वहीं पास मे किसी फक्कड सत का उसे पता चला। उसने सत को आदर सहित अपने पास लाने का आदेश दिया। सिपहसालारो ने सत के पास पहुचकर शहशाह सिकन्दर का पैगाम उन्हे दिया। सत तो सत ही होते है, उनके लिये क्या राजा क्या रक! उन्होंने उत्तर दिया- 'हमे किसी शहशाह के पास जाने की इच्छा नही।'

हाकिम ने समझाने की कोशिश की- 'हुजूर शायद आपने सिकन्दर का नाम नहीं सुना। वे सारी दुनिया के बादशाह है। उनके पास जाने मे तो आपका मान बढेगा।'

सत ने अपनी आश्वस्त मुद्रा मे एक बार सिपहसालारो की ओर देखा। चेहरे पर व्यग्य की हल्की मुस्कान बिखेरते हुये उन्होने कहा- 'भाई, सिकन्दर को भला कौन नही जानता? मै तो उसे अच्छी तरह जानता हूँ। पर तुम शायद मुझे नही जानते। जिसे तुम शहशाह कहते हो, वह सिकन्दर मेरे गुलामो का गुलाम है। जाकर कहना उससे कि अपने मालिको के मालिक से जरा अदब से बात करना सीखे।'

सुनकर हाकिम हैरान रह गया। सत की निर्भीक और निश्चिन्त मुद्रा देखकर, उनके चेहरे पर खेलता हुआ फक्कडपन देखकर, उसे कुछ भी कहने की हिम्मत नही हुई। सिर नीचा किये वह लौटा और सारा वृत्तान्त अपने स्वामी को कह सुनाया। सत का उत्तर सुनकर सारे लोग सन्न रह गये। लगा कि अब कयामत बरसने वाली है। पर ऐसा कुछ नही हुआ। सिकन्दर ने निहायत धीमी आवाज मे इतना ही कहा- 'कोई बात नही। फकीर यहाँ नही आना चाहता तो हम खुद उनकी कदमबोसी के लिये उनके सामने जायेंगे।

दूसरे दिन सुबह जब सिकन्दर सत की कुटिया पर पहुँचा तब वह महात्मा जाडे की सुहानी धूप मे बैठे इबादत कर रहे थे। विनय के साथ उनके सामने सिजदा करके सिकन्दर ने कहा- 'मै सिकन्दर, आपकी कुछ खिदमत करना चाहता हूँ। मुझे कोई हुक्म दीजिये।'

-'यदि सचमुच खिदमत करना चाहते हो तो मेरी धूप छोडकर एक ओर खडे हो जाओ। इस समय तो यही मेरी बड़ी खिदमत होगी।' महात्मा का सीधा-सादा उत्तर था।

अपने आप को सम्हालते हुये सिकन्दर अदब से पीछे हट गया और विनय के साथ उसने महात्मा से पूछा -

-'मेरे सिपाही यहाँ आये थे। उनके सामने आपने मुझे अपने गुलामो का गुलाम कहा। आपके साथ यह रिश्ता मै समझ नही पाया। क्या आप इसका खुलासा करने की तकलीफ गवारा करेंगे ? आपकी बडी मेहरबानी होगी।'

संत ने सिकन्दर और उसके साथियो को बैठने का इशारा किया। जब वे सब आराम से बैठ गये तब महात्मा जी ने सिकन्दर से कुछ सवाल पूछे-

-'सारी दुनिया को जीतने की हसरत लेकर तुम अपने घर से निकले हो न ?'

-'जी, आपने सही कयास किया है।' सिकन्दर का उत्तर था।

-'राह मे जो राजे-महाराजे तुम्हारा मुकाबला करते होगे उन पर तुम्हे गुस्सा जरूर आता होगा ?'

-'बिना गुस्से के उन्हे हम जीत कैसे सकते है? उन पर अपना रुतबा जताने के लिये गुस्सा तो बहुत जरूरी है। वह तो एक बादशाह की मजबूरी है।' सिकन्दर की आवाज नरम पडती जा रही थी।

-'नये-नये मुल्क जीतने पर तुम्हारे मन मे फतह का गुरूर भी आता होगा?'

-'जब एक गॉव की मालकियत पा लेने पर गुरूर आ जाता है, तब जाहिर है कि पूरे मुल्क पर अपना परचम लहराने पर फतह का गुरूर तो आता ही है। पर हुजूर यह सब पूछ क्यों रहे है?' अब सिकन्दर की उत्सुकता बढने लगी थी।

-'बस एक सवाल और, अपनी इस बडी भारी फौज को घर से इतनी दूर, मरने-मारने के लिये तैयार रखना तो बडा मुश्किल काम है। जरूर तुम्हे इसके लिये कुछ अच्छे वादे उन सबके साथ करने ~~पड़ते~~ होंगे?''

-'यह तो बहुत सादा सी बात है। जब तक आने वाले कल की कोई खूबसूरत तस्वीर दिखाई न जाये, तब तक अपनी जिन्दगी कोई

क्यो बरबाद करेगा? कुछ रगीन ख्वाब तो उन्हे दिखाने ही पडते है ।' सिकन्दर ने जैसे अपना अपराध कबूल कर लिया ।

उसकी बात पूरी होते ही सत ने मुस्कुराते हुये कहा -

-'तो यह हुआ तुम्हारा पूरा परिचय । तुमने तो खुद हामी भर दी है कि लालच, गुस्सा, गुरूर और दगाबाजी हमेशा तुम पर काबिज रहते है । यही तो तुम्हारी कामयाबी का राज है ।'

-'मेरे भाई ! पहले हम भी इसी क्रोध, अहकार, मायाचार और लालच के गुलाम बनकर, तुम्हारी ही तरह दर-ब-दर भटकते फिरते थे । फिर हमे बेनियाजी और फक्कडपने का ये रास्ता मिला । हम सब कुछ छोडकर इस रास्ते पर चल निकले ।'

-'अब हमे किसी के सलाम की ख्वाहिश नही रही । किसी से सलाम वसूलने के लिये हमे गुस्से या गुरूरका सहारा नही लेना पडता । अपनी ख्वाहिस के पीछे, दगाबाजी करके हमे किसी की जिन्दगी दॉव पर नही लगानी पडती । जैसे एक आजाद पछी अपने आप को सारे आसमान का मालिक महसूस करता है, उसी तरह हमे सारा जहान अब अपना सा लगने लगा है ।'

-'इस तरह वे चारो, क्रोध-मान-माया-लोभ, जो पहले हम पर काबिज रहते थे, अब हमारे गुलाम हो गये है । अब हम उनके वश मे नही, वे हमारे वश मे है । हमारी ताबेदारी करते है । और तुम ? तुम तो अभी-अभी इकरार कर चुके हो कि तुम उन्हीं चारो की ताबेदारी मे खुद परेशान हो और दुनिया को परेशान करते घूम रहे हो ।'

-'अब तुम्ही कहो भाई ! क्या तुम्हे अपने गुलामो का गुलाम कह कर हमने कोई गलत-बयानी की है? क्या हमारे तुम्हारे बीच यह रिश्ता सौ-फीसदी सही नही है? क्या इसमे जरा सा भी झूठ है?'

-'अगर तुम्हे वाकई फतह हासिल करनी है सिकन्दर ! तो पहले इन चार शैतानो की गुलामी से अपने आपको आजाद करो । वही तुम्हारी सबसे बडी कामयाबी होगी ।'

-'दूसरो का मालिक बनने वाला बडा नही कहलाता । बडा तो वह होता है जो खुद अपना मालिक बन जाता है । खुद अपने आप पर काबिज हो जाता है ।'-

इन्सान की बदबख्ती अंदाज से बाहर है,
कमबख्त खुदा होकर,बन्दा नजर आता है।

जैसे-जैसे सत बोलते जा रहे थे, वैसे ही वैसे सिकन्दर अपने भीतर एक नई रोशनी फैलती महसूस कर रहा था। विश्व-विजेता होकर भी सचमुच वह कितना गुलाम था। अपनी वासनाओ का, अपने अहकार का और अपने लालच का गुलाम। जैसे उसका सब कुछ उन्ही के लिये बनकर रह गया था। खुद अपने ऊपर भी उसका कोई जोर, कोई अख्तियार रह नही गया था। उसके कान हमेशा खुद-बीनी और खुश-फहमी बढाने वाली खुशामदी बाते सुनने के आदी थे। वह आज कुछ ऐसा सुन रहा था जैसा इसके पहले किसी ने उसे नही सुनाया था। उसका सर अपने आप झुक गया और बरजस्ता उसके मुँह से निकल पडा- 'या खुदा, ये है इस मुल्क की तासीर।'

काल्पनिक मजिल पाने की होड मे बेतहाशा दौड़ता हुआ घोडा, कही एक झण भी ठहर कर आराम की साँस नही ले पाता, क्योकि उसकी लगाम बेदर्द हाथो मे होती है। उसकी पीठ पर लगातार कोडे बरसते रहते हैं। नतीजा यह होता है कि मैदानी दौड पूरी होने के पहले ही उसकी जिन्दगी की दौड पूरी हो जाती है, और वह कही बीच मे ही गिर कर दम तोड देता है।

सिकन्दर की हालत भी कुछ ऐसी ही हो रही थी। खल्क का मालिक बनने की हवश उसे दौडाये जा रही थी। उसकी लगाम लालच के बेदर्द हाथो मे थी और उसकी पीठ पर गुरूर के, अहकार के और ख्वाहिशो के कोडे लगातार पड रहे थे। वह परिस्थितियो का दास बना भटक रहा था।

अपनी हालत पर पशेमान वह सर झुकाये हुए उठा और संत की कदमबोसी करके अपने डेरे की ओर वापस चल दिया। उस समय उसके बहादुर ओर मगरूर सरदारो का भी मुँह लटका हुआ था।

सिकन्दर की इस दौड का नतीजा तारीख में कहीं दर्ज है। अपने मुल्क पहुँचने के पहले ही रास्ते मे मौत ने उसकी दौड खत्म कर दी थी।

महादुर्लभ : यह मनुष्य की देह

चौरासी लाख योनियो मे बार-बार जन्म-मरण करते हुये मनुष्य का शरीर पाने के लिये हमे विकास की अनेक सीढ़ियाँ पार करनी पड़ी

हैं। पहले हम सिर्फ एक स्पर्शन-इन्द्रिय पाकर स्थावर जगत मे पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और वनस्पति आदि के रूप मे रहे। फिर स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ प्राप्त कर रूनी, लट गिजाई आदि का शरीर हमे मिला। चीटी जैसी तुच्छ पर्यायो मे घ्राण सहित तीन इन्द्रियाँ हमे प्राप्त हुई। फिर मक्खी, ततैया, भँवरा आदि का जन्म चक्षु सहित चार इन्द्रियों के साथ हमने पाया।

इन अविकसित दशाओ मे अपने हित और अहित का विचार करने तथा उस सीख को धारण करने की क्षमता हमे प्राप्त नही थी। तब मन ही हमारे पास नही था। फिर दैवयोग से पशुओं-पक्षियो के जन्म हमे मिले जहॉ कर्ण इन्द्रिय को मिलाकर पॉच इन्द्रियो के साथ, विकास के अगले चरण मे हमे मन भी प्राप्त हो गया।

परन्तु हमारे वे सारे जन्म सक्लेश-पूर्ण, भूखा-प्यासा रहने मे, बोझा ढोने मे, पिजरा, खूँटा, नकेल और लगाम की पराधीनताओ मे ही बीतते रहे। खुद शिकार करने मे या दूसरो का शिकार बन जाने मे ही व्यतीत हो गये।

आज बडी कठिनाई के बाद, बहुत पुण्य कमाने पर, हमे यह मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है। यहाँ स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र और कर्ण, इन पॉचो इन्द्रियो के साथ मन पर भी हमारा अधिकार हुआ है। आगामी जन्मो में दुर्गति से बचने के लिये, कुछ करने का विवेक और शक्तियॉ हमे प्राप्त हुई हैं। विचारने की बात यह है कि हमे इनसे अपने और पराये हित का कुछ काम लेना है या इन्हे यो ही खो देना है?

कषायों का कुफल-

एक सत कहा करते थे कि मन और इन्द्रियॉ तो मिली है परन्तु इन पर अधिकार हमे कहॉ प्राप्त हुआ है? उल्टे इन्ही ने हम पर अधिकार कर लिया है। चार कषायो के वश मे होकर हम अपने मन और इन्द्रियो का निरतर दुरुपयोग करते रहे है, कर रहे है। कषायो के आवेग के कारण हमारे लिये इन इन्द्रियो की सार्थकता ही खो गई है। उनका स्व-हित मे कोई प्रयोग हम नही कर पा रहे है।

-क्रोध ने हमारी ऑखे छीन ली है। क्रोधी-व्यक्ति को कुछ सूझता नही।

-मान ने, अहकार ने हमे बहरा बना रखा है, अहकारी व्यक्ति किसी की सुनता नही। मान के आवेग मे हम बहरे हो जाते है।

-मायाचार ने हमारी जिभ्या छीन ली है। हमारी वाणी का अर्थ छीन लिया। मायाचारी व्यक्ति के तो पत्नी और पुत्र भी उसकी बात का विश्वास नहीं करते। इस तरह हमारी रसना इन्द्रिय व्यर्थ हो गई।

-लोभ-लालच ने हमारी नाक ही कटा दी है। लालची व्यक्ति का हाथ हर जगह, हर किसी के सामने, फैला ही रहता है। उसका कोई आत्म-सम्मान नही होता। वह तो हर जगह नाक रगडता रहता है। इस प्रकार हमारी घ्राण इन्द्रिय भी व्यर्थ हो गई।

हमारा मन, प्राय हमारे सकल्प के बिना, अपनी मर्जी से, न जाने कहाँ-कहाँ भटकता फिरता है। एक क्षण भी स्थिर नहीं होता। उसकी चपलता हमारे लिये दुनिया भर के सकल्प-विकल्प, द्वन्द्व और सक्लेश अर्जित करती रहती है। इस तरह हमारा उस पर कोई अनुशासन नही है। उल्टे वही हम पर शासन कर रहा है।

विकलांग व्यक्तित्व-

विचार करने की बात है कि जब इस प्रकार चार कषायो ने हमारी चारो इन्द्रियो को निरर्थक कर दिया हो, पाप की वासनाओ ने हमारे मन को मलीन कर रखा हो, मन की लगाम हमारे हाथ मे न हो, तब हमारी स्थिति क्या रही? चार इन्द्रियो से रहित किसी विकलाग व्यक्ति की कल्पना करे, क्या वह एक वृक्ष की तरह मात्र ठूँठ बनकर नही रह गया है? क्रोध-मान-माया-लोभ के कारण, क्या हम अपने उसी आदिम मुकाम पर खडे नही हो गये है जहाँ से हमारी यात्रा बहुत समय पहले, लाखो-करोडो जन्मो के पहले प्रारम्भ हुई थी?

मिथ्यात्व, क्रोध-मान-माया और लोभ, मूलत यही पाँच प्रदूषण हमारे भीतर उत्पन्न होने वाले विकार है। पाप-रूप प्रारब्ध इनकी उत्पत्ति का कारण है। बाह्य मे किसी भी जड चेतन को प्रिय-अप्रिय मानना इन विकारो के विस्तार का हेतु बनता रहता है। संसार मे कोई प्राणी एक क्षण के लिये भी इन विकारो से रहित नहीं पाया जाता। क्षुद्र योनियो से लगाकर मनुष्यो तथा देवताओं मे भी सदैव, जागते या सोते, जाने या अनजाने, राग-द्वेष-मोह की प्रवृत्ति होती ही रहती है। तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र, तथा मद, मदतर और मदतम, ऐसे छह प्रकार के विकारी परिणाम यह जीव अनादि काल से अनवरत करता आ रहा है। अतर सिर्फ डिग्री का है, कभी कम, कभी ज्यादा।

कैसे मिलती है दृष्टि-

द्वन्द्व का जाल तोडकर वास्तविकताओ की ओर पग बढाने के लिये साधक सर्वप्रथम भगवत्-भक्ति का सहारा लेकर अपने परिणामो मे मदता लाने का उपाय करता है। मद परिणाम उसे 'स्व' और 'पर' को पृथक-पृथक पहचानने का अवसर देते है। उसे अपने ऐश्वर्य का, अपनी दिव्य सम्पदाओ का बोध होता है। अपने लिये हितकर और अहितकर का विवेक उसके भीतर उदित हो जाता है। यह 'स्व-पर विवेक' ही वह दृष्टि है जिसके अभाव मे वह अब तक अहित के मार्ग पर ही चलता रहा। विष को अमृत मानकर रुचि-पूर्वक पीता रहा। दृष्टि उसकी अपनी ही थी कही से आई नही। किसी ने दी नही। परन्तु अभी तक वह दृष्टि मिथ्या-आग्रहो के रोग के कारण ससार को उसके यथार्थ परिप्रेक्ष्य मे नही देख पा रही थी। मिथ्यात्व का अवसान होते ही, अब उसे 'सम्यक्-दर्शन' प्राप्त हो गया। वास्तविकता का बोध कराने वाली दृष्टि मिल गई। मोह की निशा बीत गई, ज्ञान का सूर्योदय हो गया।

मोह-मुक्त होकर साधक अपने राग-द्वेष को जीतने का उपाय करता है। अपनी पाप-प्रवृत्तियो से छूटने का पुरुषार्थ प्रारम्भ करता है। इनके छोडने का भी एक क्रम है। ये विकार एक साथ समाप्त नही होते। पहले दिशा-परिवर्तन करके उन्हे धर्म के साधक कार्यो की ओर मोडना होता है। साधक धीरे-धीरे अपनी द्वेष-भावना पर विजय पाता जाता है और राग को शुभ कार्यो की ओर मोडता जाता है। ईश्वर-भक्ति, पूजा-अर्चना, परोपकार, दया-दान और आत्म-निग्रह के लिये किये गये व्रत, त्याग-तप आदि सब, अपने राग-भाव को शुभ या विशुद्ध बनाने के उपाय हैं। यह विशुद्धि ही उसे आगे बढने मे सहायक होती है।

ऐसे शुभ-राग को 'प्रशस्त-राग' भी कहा गया है। शायद इसीलिये कि इसे प्राप्त कर लेने पर वीतरागता का मार्ग प्रशस्त होने लगता है। सम्पूर्ण वीतरागता साधना का अतिम लक्ष्य है।

अनियंत्रित शक्तियाँ विनाश ही करती हैं-

धरती पर प्रति-वर्ष वर्षा के साथ ही सृजन का नूतन-क्रम प्रारम्भ होता है। एक बार पृथ्वी की प्यास बुझते ही चारो ओर हरियाली

छा जाती है । बाँध बनाकर एकत्रित किया गया, और नहरो के कूल-किनारो मे अनुशासित करके बहाया गया वह पानी रेगिस्तान को भी हरा-भरा कर देता है । परन्तु जब कभी वही पानी बाढ का प्रकोप बनकर, एकदम अनियंत्रित होकर, लक्ष्य-विहीन और दिशा-हीन प्रवाहित होने लगता है तब जल-प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है । चारो ओर विनाश ही विनाश दिखाई देने लगता है ।

नियत्रण के अभाव मे सृजन-धर्मा जल प्रलय-धर्मा बन जाता है । जीवन के सारे आधार उसमे डूब कर विलीन हो जाते है । दूर-दूर तक ऐसी सडाध फैलती है कि सॉस लेना दूभर हो जाता है । तब उस पानी की प्रकृति इतनी घातक हो जाती है कि फिर वह किसी की प्यास बुझाने के काम नही आता । उस पानी मे घिरे हुए लोग प्यास से तडपते और मरते रहते है ।

जल का प्रवाह बडा शक्तिशाली होता है, परन्तु उसकी शक्ति का उपयोग सृजन मे होगा या विनाश मे, यह इस बात पर निर्भर है कि वह लक्ष्य-विहीन होकर अनियत्रित ढग से बहता है, या किसी लक्ष्य की ओर उसे नियत्रित करके प्रवाहित किया गया है ।

अनिवार्य है नियंत्रण-

हमारा जीवन भी एक शक्तिशाली प्रवाह की भाँति ही तो है । मन, वाणी और शरीर हमारी प्रमुख शक्तियॉ है । जिस प्रकार मनुष्य अपने विवेक से जल, विद्युत, वायु आदि प्राकृतिक शक्तियो को नियत्रित करके उनका उपयोग मानवता के हित मे कर लेता है, उसी प्रकार हमारी आत्मा मे ऐसी शक्ति है कि यदि हम विवेक-पूर्वक ठान ले तो अपने मन, वाणी और शरीर तीनो शक्तियो को दिशा देकर नियत्रित कर सकते है । उन्हे स्व-पर कल्याण के सृजनात्मक कार्यो मे नियोजित कर सकते है ।

हम अपने चारो ओर दृष्टि डाले तो यह सहज ही प्रमाणित हो जायेगा कि जो अपनी इन शक्तियों को पहचान कर उन्हे सयम के कूल-किनारो मे नियत्रित कर लेते है, अपने और दूसरो के हित को लक्ष्य बनाकर जो उन्हे कल्याण की दिशा मे प्रवाहित करते हैं, वे समाज के लिये शुभ और मंगल के सृजन में सहायक होते है । मन, वचन और शरीर की शक्तियाँ, जहॉ भी अनुशासन-बद्ध प्रवर्तन करती है, वहा अपने आप सुख, समृद्धि और शान्ति की त्रिवेणी प्रवाहित होने

लगती है । अनुशासित व्यक्तित्व मे एक ऐसी चमक उत्पन्न हो जाती है जो दूसरो के लिये भी उत्कर्ष का मार्ग प्रकाशित करती है ।

परन्तु अनुशासन के अभाव मे व्यक्ति की शक्तियाँ समाज के लिये अभिशाप बनकर बिखरती है । मन-वाणी और शरीर के लक्ष्य-विहीन, अमर्यादित और असयत प्रयोग, व्यक्ति के व्यक्तित्व को कुरूप तो बनाते ही है, वे समाज की सुख, समृद्धि और शान्ति को भी हानि पहुचाते है । ऐसे लोगो के कारण सारा वातावरण दूषित हो जाता है । अभय के स्थान पर आतक और स्वतत्रता के स्थान पर स्वच्छंदता का बोलबाला हो जाता है । मानवता का अवमूल्यन होने लगता है । इसलिये व्यक्ति की शक्तियो का सयोजित प्रवर्तन आवश्यक है ।

यह किसी के व्यक्तिगत हानि-लाभ का प्रश्न नही है । यह सारे समाज के कल्याण या अकल्याण से जुडा हुआ सवाल है । मानवता को लॉछन से बचाने के लिये, और प्राणी मात्र को सह-अस्तित्व का आश्वासन देने के लिये, व्यक्ति की शक्तियो का नियत्रण अनिवार्य है ।

धर्म की उपयोगिता

वाणी का हम जो समाज-विरोधी प्रयोग करते है, उस पर हमारी सस्कृति, हमारी सभ्यता और हमारा समाज अकुश लगा देता है । शरीर के माध्यम से तथा अन्य भौतिक साधनो से हम जो अनाचार करते है उन्हे रोकने के लिये कानून हैं, शासन है और पुलिस है परन्तु, मन के द्वारा हम जो पाप करते हैं उसे रोकने वाली कोई शक्ति नही होती । मन पर अनुशासन सिर्फ धर्म या व्रत-सकल्प के द्वारा ही सभव है ।

वास्तव मे मन ही सबसे बडा पापी है । हम सामान्यतया जीव-हिसा नही करते । परन्तु हमारा मन कितनी हिसा करता रहता है? हम बैठे-बैठे कितनो का अहित-चिन्तन करते रहते है ?

झूठ बोलने के अवसर भी हमारे जीवन मे कम ही आते है । परन्तु हमारा मन, माया के वशीभूत होकर कितने-कितने मिथ्या सकल्प-विकल्प करता रहता है ।

हम चोरी को निन्दनीय-कृत्य मानते हैं । उससे अपने आपको बचाते ही रहते है । परन्तु हमारा मन कहाँ-कहॉ चोरी करने पहुच जाता है, हम किस-किस वस्तु पर ललचाते रहते है क्या इसका कोई ठिकाना है? यह मन तो निरन्तर चोरी मे ही सलग्न रहता है ।

कुशील के विषय मे तो कुछ नही कहना ही ठीक होगा। सामर्थ्य के अभाव मे, या अवसर के अभाव में, शरीरिक-व्यभिचार भले ही न होते हो, परन्तु हमारे मन की दशा क्या है? वह कहॉ-कहाँ नही भटका है? किस-किस के साथ उसने वर्जित-सम्बन्ध नही बनाये है? क्या उन सम्बन्धों की कोई गणना की जा सकती है।

इसी प्रकार परिग्रह को लेकर भी, हम-भटके हों या नही, हमारा मन कहॉ-कहॉ नही भटक चुका है? किस-किस पदार्थ को अपना मान कर हमने शेख-चिल्ली के लड्डू नही खाये है?

इस तरह वाणी और शरीर की अपेक्षा कई गुने पाप मन के आधार से हमारे जीवन मे घटित हो रहे है। यहॉ तक कि जब हम सोते है, असहाय होकर अस्पताल के पलग पर पडे होते है, या मन्दिर मे पूजा-आरती मे लगे होते है, धार्मिक ग्रन्थो का पाठ कर रहे होते है, तब भी हमारा मन प्राय निष्पाप नही हो पाता। वह तो किसी न किसी पाप मे ही उलझा रहता है।

कबीर ने कहा- 'भगतजी! माला आपके हाथ मे सरक रही है। प्रभुनाम के उच्चारण के लिये आपकी जीभ मुख मे व्यायाम कर रही है, परन्तु आपका मन कहाँ है? वह तो बाजार में घूमता हुआ मिला था। भाई, यह भक्ति तो नही है।'-

माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख माँहिं,
मनुवाँ फिरत बजार में, यह तो सुमिरन नाहिं।

किसी अन्य कवि ने कहा- 'ईश्वर की आराधना करते-करते तू युवा से वृद्ध हो गया। तीर्थ-यात्रा करते-करते तेरे पग के पद-त्राण घिस गये, परन्तु तेरी वासना तो जरा भी नही घिसी। यह कैसी पूजा है?'-

मन्दिर तीरथ भटकते, वृद्ध हो गया 'छैल',
पग की पनहीं घिस गईं, घिसा न मन का मैल।

इसीलिये सतो ने सबसे पहले मन को अनुशासित करने की बात कही है।

हमारे जीवन मे राग-द्वेष के कारण इन पाँच पापो की अवतारणा होती है। वही हमारे दुखों का मूल कारण है। एक कवि ने हमारी बेचैनी की चर्चा करते हुये कहा- 'संसारी जीव कभी चैन नही पाता। अपने मोह और राग-द्वेष के कारण भ्रमित होकर वह

अनादिकाल से दुख उठा रहा है । वह हिसा के कार्य करके अपने को सुखी समझता है । झूठ बोलकर स्वय को चतुर मानता है । दूसरे के धन का हरण करने को अपनी शक्ति का प्रतीक मानता है और परिग्रह की वृद्धि मे अपना बडप्पन समझता है, जबकि यही पाप प्रवृत्तियाँ उसके ससार-भ्रमण का कारण बन रही है -

देखो भाई महा विकल संसारी
दुखित अनादि मोह के कारन, राग-द्वेष भ्रम भारी ।
हिंसारम्भ करत सुख समझै, मृषा बोलि चतुराई ।

यदि कभी उसके मन मे इन पापो को छोडने की बात आती भी है तो वह मन मे उनका त्याग नही कर पाता । 'कभी तरह-तरह के आसन-प्राणायाम करके मान बैठता है कि मैंने कर्मो का मार्ग रूद्ध कर लिया है, परन्तु उसके ये प्रयास शरीर के स्तर तक ही सीमित रह जाते हैं । अपने अन्तर की मलिनताओ पर उसकी दृष्टि नहीं जाती । ज्ञान-ध्यान की बडी-बडी बाते करके अपने को सत-महत समझने लगता है, परन्तु पापो की जड 'ममता' उससे छूट नही पाती'-

जोगासन करि कर्म निरोधै, आतम दृष्टि न जागै,
कथनी-कथत महंत कहावै, ममता मूल न त्यागै । -बनारसीदास

मनुष्य की इसी पाप-प्रवृत्ति का चित्रण करते हुये भूधरदास जी ने कहा - 'यह अज्ञानी अपने क्षणिक सुख के लिये बहुतेरे सूक्ष्म और स्थूल जीवो की हिसा करता है । उसी अभिप्राय से असत्य का प्रयोग करता है । पराई वस्तु की चोरी करता है और व्यभिचार के द्वारा अपने शील को लाँछित करता रहता है । अपनी अनन्त-तृष्णा की प्यास बुझाने के लिये जीवन भर परिग्रह जोडता रहता है । परिग्रह बटोरने के भाँति-भाँति के उपायो को अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण-पत्र समझता है । कहाँ तक कहा जाये, ऐसे अनेक अनर्थो मे जीवन खो देता है और अगले भव मे नरको मे दुख भोगता है'-

थिर जंगम जीव संघारै, इनके बस झूठ उचारै ।
पर चोरी सों चित लावै, पर तिय-संग सील गमावै ।
परिग्रह-तिसना विस्तारै आरम्भ-उपाधि विचारै ।
इत्यादि अनर्थ अलेखे करि घोर नरक दुख देखे ।

-पार्श्वपुराण/7/87-88

कबीर ने कहा- 'बडा दुर्भाग्य है कि मन पॉच इन्द्रियो के वश मे पडकर, पाँच पापो मे भटक गया है। इन्द्रियॉ मन के वश मे नही हैं इसलिये जिधर देखता हूॅ उधर ही पाप की ज्वालाये सुलग रही हैं। जिस ओर भागता हूँ वहॉ केवल अतृप्ति की दाह ही झेलना पडती है। सुख और सतोष कही दिखाई नही देता'-

मन पाँचों के बस पड़ा, मन के बस नहिं पाँच,
जित देखूं तित दौं लगी, जित भागूं तित आँच।

कबीर के मत से यह सम्भव ही नहीं है कि- 'पाप कृत्य भी रुचिकर लगते रहें और धर्म की आराधना भी होती रहे। दो में से एक कुछ भी किया जा सकता है। एक साथ दोनो नही सध सकते'-

कबीर मन तौ एक है, भावै तहॉ लगाव,
भावै गुरु की भक्ति कर, भावै विषय गमाव।

इसीलिये अपने आपको सम्बोधित करते हुये कबीर कहते है- 'पाप के जिस भॅवर मे सब डूब रहे हैं, तुझे उससे बचना है। यदि समय रहते तू सावधान होकर यह पुरुषार्थ नहीं कर पाया तो जिस प्रकार आटे मे नमक विलीन हो जाता है, उसी प्रकार ससार के भोगो में तेरी यह कचन सी काया क्षीण होकर विलीन हो जायेगी'-

जिहि जिवरी से जग बँधा, तू मत बॅधै कबीर,
जासी आटा-लोन ज्यों, सोन-समान शरीर।

पॉच व्रत

पाप-प्रवृत्तियो से बचने के सकल्प का नाम ही 'व्रत' है। पाप को मोटे रूप से हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच प्रकारो मे बॉटा गया है, अत उसे त्यागने के सकल्प को भी पॉच प्रकार से कहा गया है। फलत व्रत भी मुख्य रूप से पॉच ही बताये गये है।

हिंसा का त्याग करने के लिये 'अहिंसा व्रत'।
असत्य का त्याग करने के लिये 'सत्य व्रत'।
चोरी का त्याग करने के लिये 'अचौर्य व्रत'।
कुशील का त्याग करने के लिये 'शील व्रत'। और-
परिग्रह-लिप्सा त्यागने के लिये 'परिग्रह-परिमाण व्रत'।

साधना का अधिकारी कौन?

व्यक्ति का उत्कर्ष और समाज-कल्याण दोनो को, एक दूसरे का पूरक बनाकर चलाना धर्म का अभिप्राय है। जो धर्म प्राणी मात्र के कल्याण का अश्वासन देता है, वह मनुष्य और मनुष्य मे भेद कैसे कर सकता है। धर्म तो पतित पावन है। किसी भी जाति के स्त्री या पुरुष को, और बालक या वृद्ध को उसे धारण करने का पूरा अधिकार है। मनु-स्मृति में अहिसा, सत्य, अचौर्य, शुचिता और इन्द्रिय-निग्रह रूप धर्म समाज मे चारो वर्ण के लिये साध्य कहा गया है-

अहिंसा-सत्यमस्तेयं शौचं इन्द्रिय-निग्रह.
एतत्सामासिकं धर्मा· चातुर्वर्ण्ये ब्रवीत् मनु । -मनुस्मृति

जैनाचार्यो ने इन पॉच व्रतो को 'अणुव्रत' और 'महाव्रत' के रूप मे दो प्रकार से कहा है। घर मे निवास करते गृहस्थ के लिये, परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यो का पालन करते हुये, हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का जितना त्याग सहज सम्भव है, उसे 'आशिक पाप-त्याग' कहा गया है। यही जैन साधना के 'पच-अणुव्रत' है। जाति-पाँति के भेद बिना सभी मनुष्य अणुव्रत धारण करने के अधिकारी है। पापो का पूरी तरह त्याग करना गृहस्थ आश्रम मे साध्य नही है। वह गृह-त्याग करने के उपरान्त साधु-अवस्था मे ही सम्भव होता है। मुनियो के नव-कोटि पूर्वक, ऐसे पाँच पापो के सर्वथा त्याग को 'पच-महाव्रत' कहा गया है। नव-कोटि का अर्थ है -

मन-वचन-काय से-

मै मन मे पापो का विचार नहीं करूँगा।
मै वाणी से इन पापो की चर्चा नही करूँगा।
मै शरीर से कोई पाप-कृत्य नही करूँगा।

कृत-कारित-अनुमोदना से-

मैं मन, वचन, काय से ये पाप स्वयं नही करूँगा।
मैं किसी दूसरे को इन पापों की प्रेरणा नहीं दूँगा।

मै दूसरो के द्वारा किये गये पापो की अनुमोदना नही करूँगा।

समरम्भ-समारम्भ-आरम्भ से-

मै इन पाप-कृत्यो के लिये सकल्प और सयोजना नही करूँगा।

मै इन पाप-कार्यो के साधन एकत्र नहीं करूँगा।

मै इन पाप-कार्यो के प्रयत्न नही करूँगा।

ये पाँच-पाप ही वे पाँच-ग्राम है जिनके त्याग का आश्वासन अपने प्रभु को देकर हम अपने निजी कुरुक्षेत्र मे आशकित महाभारत को टाल सकते है। यही पाँच अणु-व्रत हमे ईश्वर का पक्षधर बना सकते है। इन्ही व्रतो के माध्यम से जीवन और धर्म की वह सधि सम्भव हो सकती है जो हमारे मनुष्य जन्म को सार्थक कर दे तथा हमारी अगली यात्रा को दुर्गतियो की ओर से मोडकर ईश्वर-सान्निध्य देने वाली, तथा आत्म-कल्याण की अनुकूलता देने वाली दिशाओ मे सचालित कर दे।

क्या मिलेगा इनके त्याग से

इन पॉच शर्तो के स्वीकार करने मात्र से हम अपने आपको उस महा-विनाश से बचा सकते हैं, जिसकी आशका प्रतिपल हमे आतकित कर रही है। इन पाँच मानसिक विकारो का परित्याग कर देने पर अहिसा, सत्य, अस्तेय, शील और अपरिग्रह, इन पॉच उपलब्धियो से हमारा जीवन सस्कारित होना प्रारम्भ हो जायेगा। धर्म की यदि सक्षिप्त व्याख्या करना हो तो वह इतनी ही होगी। ससार के सारे ही धर्म मनुष्य से केवल इन्ही बुनियादी बातो की स्वीकृति चाहते हैं।

१ अहिसा के आने का अर्थ है कि हिंसा हमारे जीवन से निकल जाये। हम किसी के तन या मन को पीडा पहुँचाने वाला आचरण नही करे। न मन से, न वचन से और न काय से।

२. सत्य के आने का अर्थ है हमारे नित-प्रति के व्यवहार में परहित की भावना प्रतिष्ठित हो। यही असत्य का त्याग है। निश्छल-व्यवहार उसका फल है।

३ चोरी के त्याग या 'अस्तेय' की प्राप्ति होने पर अनीति के सहारे, अवैध तौर-तरीको से किसी वस्तु की कामना, या उसे प्राप्त करने का सकल्प फिर हमारी चेतना मे उत्पन्न नही होगा।

४ कुशील को विदा करके हम पारस्परिक सौजन्य और मर्यादाओ के साथ अपने पारिवारिक तथा सामाजिक दायित्वो का निर्वाह कर सकेगे। यही शील है।

५ परिग्रह लिप्सा कम हो तो अपरिग्रह के लिये हमारे मन मे अवकाश हो। हम अपनी आकॉक्षाओ की सीमा निर्धारित कर सके और आवश्यकता से अधिक वस्तुओ के प्रति हमारे मन मे लालच या व्यामोह न रहे। अपरिग्रह की यही परिभाषा है।

असीमित वस्तुओ को अपने लिये प्राप्त करने की अनन्त अभिलाषाये जो निरन्तर हमारे मन मे उत्पन्न होती रहती है, वे ही हमे हिसा करने के लिये, झूठ का सहारा लेने के लिये, चोरी का पाप करने के लिये और शील-सकोच की उपेक्षा करने के लिये प्रेरित करती है।

अभिलाषाओ की यह दौड हमे भटकाती बहुत है, पर पहुॅचाती कहीं नही। यह ऐसी विचित्र दौड है जिसकी मजिल तक कभी कोई नही पहुॅच पाता। वह मजिल सदा आगे ही बढती जाती है। तृष्णा की तृषा कभी बुझती नही।

इतना कर सके तो इसी जीवन मे असीमित आकाक्षाओ और अदम्य कामनाओ का वह महाभारत हम टाल सकते है जिसकी भूमिका हमारे ही भीतर, हमारे अपने कुरुक्षेत्र मे तैयार हो रही है। जो यदि टाला न जा सका तो इस मानव-जीवन का सूर्यास्त होते ही हमे दुर्गतियो की गहरी और भयावनी रात्रि का सामना करना पडेगा, जिसका अवसान फिर आसान नही होगा। फिर कहा नही जा सकता कब, कितने जन्मो मे, कहाँ-कहाँ कितनी यातनाएँ भोगने के बाद, फिर हमे मनुष्य का जन्म मिलेगा।

अहिंसा और अपरिग्रह

अहिसा मानसिक पवित्रता का नाम है । उसके व्यापक क्षेत्र मे सत्य, अचौर्य, ब्रम्हचर्य और अपरिग्रह आदि सभी सद्गुण समा जाते है । इसीलिये अहिसा को 'परम-धर्म' कहा गया है । ससार मे जल-थल और आकाश सर्वत्र सूक्ष्म-जीव भरे हुये हैं. इसलिये बाह्य आचरण मे पूर्ण अहिसक होकर रहना सम्भव नही है । परन्तु यदि अन्तरग मे समता हो और बाहर की प्रवृत्तियॉ यत्नाचार पूर्वक नियत्रित कर ली जाये, तो बाह्य मे सूक्ष्म जीवो का घात होते हुये भी, साधक अपनी आतरिक पवित्रता के बल पर अहिसक बना रह सकता है ।

अहिसा का क्षेत्र इतना सकुचित नही है जितना लोक मे समझा जाता है । अहिसा का आचरण भीतर और बाहर दोनो ओर होता है । अन्तरग मे चित्त का स्थिर रहना अहिसा है । जीव की अपने समता-भाव मे सलग्नता ही अहिसा है । क्रोध-मान-माया-लोभ से रहित पवित्र विचार और सकल्प बने रहना अहिसा है । अतरग मे ऐसा आशिक समत्व लाये बिना अहिसा की कल्पना नही की जा सकती ।

अहिसा केवल एक व्रत नही है । अहिसा एक विचार, एक समग्र-चिन्तन है । अहिसा किसी मदिर मे, या किसी तीर्थ पर जाकर सुबह-शाम सम्पन्न किया जाने वाला अनुष्ठान नही है । वह आठो-याम चरितार्थ किया जाने वाला एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है । वह ससार के सभी धर्मो का मूल है ।

मानवता की परिभाषा यदि एक ही शब्द मे करने की आवश्यकता पडे तो 'अहिसा' के अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द है ही नही जो उस गरिमा का वहन कर सके ।

अहिसा पर यह आरोप लगता है कि वह एक नकारात्मक विचार है, गृहस्थ जीवन मे व्यवहार्य नहीं है । परन्तु अहिसा पर जो अध्ययन हुआ है, और समाज मे अहिंसक जीवन के जो उदाहरण सामने आये हैं, उनके आधार पर ये दोनों आरोप निराधार सिद्ध होते हैं ।

यदि हम सतो और मुनियो-आचार्यो की बात छोड भी दें, तो भी अनेक उदाहरण हमारे सामने है। महात्मा गांधी ने अहिंसा के सकारात्मक प्रयोग करके, रक्त-विहीन क्रान्ति के सहारे, अपने देश को स्वाधीन कराने का अनोखा काम, अभी हमारे सामने ही सम्पन्न किया है। इसी प्रकार अनेक महापुरुषो ने हिंसा-रहित-जीवन जी कर यह भी चरितार्थ कर दिया है कि हिसा अव्यावहारिक नही है। वह पूर्णत व्यावहारिक जीवन-पद्धति है। वह एक निष्पाप, निराकुल, सतुष्ट और अखण्ड जीवन जीने की कला है। अहिसा मे इतनी सामर्थ्य है कि वह बिकार से दहकते हुये चित्त मे समता और शान्ति के फूल खिला सकती है।

अहिसा निर्मल चेतना से अनुशासित, विधायक ओर व्यवहार्य जीवन-विधान है। वह मनुष्य की सबसे बडी पूँजी है। मनुजता की धुरी है। जैनाचार्यो ने अहिसा को परम-धर्म और हिसा को सबसे बडा पाप माना है। उन्होने स्थापित किया है कि झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह आदि सभी पाप हिसा के ही रूप हैं। इसीलिये उन्होने अहिंसा को साध्य तथा सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि शेष व्रतो को उसका साधक माना है। उन्होंने आन्तरिक अहिसा को 'निश्चय-अहिसा' और बाह्य आचरण मे पलने वाली अहिसा को 'व्यवहार-अहिसा' कहा है।

इस प्रकार जैन सिद्धान्त के अनुसार जीव के अपने अविकारी भाव अहिसा है और विकारी भाव ही हिसा है। दूसरे शब्दो मे जो प्रमाद से अभिभूत है वह हिंसक और जो अप्रमत्त है उसे अहिंसक कहा गया है।

अहिसा मानव-मन का स्थायी भाव है। राजनीति के कुचक्र मे क्षुद्र स्वार्थो की पूर्ति के लिये, कही धर्म के नाम पर, कही भाषा और वेष के नाम पर, बार-बार हिंसा को उकसाया जाता है। सतो-महात्माओ के द्वारा जगायी गई अहिंसा की ज्योति को बुझाने का प्रयास किया जाता है, परन्तु वह ज्योति केवल कॉप कर रह जाती है। कभी बुझती नही।

अहिसा अनन्त काल तक मानव मन को प्रकाशित करती रहेगी। वह उधार के तेल से जलाया गया दीपक नही है जो घड़ी भर मे बुझ जाये। अहिसा तो एक आतरिक प्रकाश है। वह मानवता की सहज-स्वाभाविक और शास्वत ज्योति है। उसे कभी बुझाया नहीं जा सकेगा। भावनाओं को भड़का कर इन्सान को

कुछ समय के लिये शैतान बनाया जा सकता है पर उसे हमेशा शैतान रखा नहीं जा सकता ।

हिसा पर अहिसा की विजय का यही सबसे बडा प्रमाण है ।

जैन आगम में अहिंसा-

अहिसा जैन धर्म का प्राण है । इसलिये जैन आगम मे अहिंसा की प्रेरणा के लिये और हिंसा के निषेध के लिये, बहुत लिखा गया है । लगभग एक हजार वर्ष पूर्व अमृतचन्द्रस्वामी प्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य हुये है । उन्होने अनेक शास्त्रो की रचना की । हिसा और अहिंसा की परिभाषा के लिये उन्होंने एक स्वतत्र-ग्रन्थ लिखा । अहिसा के मार्ग से चारो पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते है, ऐसा विश्वास करके उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम रखा- 'पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय'।

अमृतचन्द्रस्वामी ने इस ग्रन्थ मे हिसा और अहिसा का इतना सूक्ष्म विश्लेषण किया है कि बाद के आचार्यों ने उनके विषय में यह स्वीकार किया कि- 'हिसा-अहिसा के विषय मे आगम मे जहाँ भी, जो कुछ भी उपलब्ध है, वह बीज के रूप मे 'पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय' मे अवश्य है । जो इस ग्रन्थ मे नही है वह अन्यत्र कही नही है ।'

उनकी विवेचना के कुछ सूत्र हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे ।

निज की भी होती है हिंसा-

चित्त मे क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषायो की उत्पत्ति ही हिसा है । चित्त की निष्कषाय, निर्मल परिणति ही अहिसा है । जीव जब राग-द्वेष-मोह रूप परिणामो से प्रेरित नहीं है, तब प्राणो का व्यपरोपण हो जाने पर भी वह अहिंसक है, और जब राग आदि कषायो से युक्त है तब किसी के प्राणो का विघात न होने पर भी वह हिंसक है ।

हिसा के सन्दर्भ मे प्राय यह समझा जाता है कि दूसरो को पीडा पहुचाना हिसा है । कोई व्यक्ति क्रोधित होकर किसी को मारता है तब निश्चित ही पिटने वाले व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक पीडा होती है । इसी पीडा को प्राय हिंसा की सीमा ममझ लिया जाता है । परन्तु पीटने वाले व्यक्ति की मानसिक या शारीरिक पीड़ा को, या उसके प्राणो के विघात को अनदेखा कर दिया जाता है । परन्तु वह सम्पूर्ण सत्य नही है । यह तो अधूरा सत्य है ।

व्यक्ति जब क्रोधित होता है और दूसरे को मारता-पीटता है तब उसके अपने भी तन और मन दोनो विकृत हो जाते है। उसका चित्त अशान्त हो जाता है। वह अपने भीतर एक तनाव महसूस करता है। इसके बाद ही वह दूसरे के साथ मार-पीट करता है। जैन व्याख्या के अनुसार हिसा के पूर्व, हिसक के तन और मन की विकृति भी हिसा है। वह उसके अपने प्राणो का व्यपरोपण है और पहले वही हिसा घटित होती है। इस तरह हिसक व्यक्ति, बाहर की हिसा के पूर्व, मन मे हिसा की भावना आते ही अपनी स्व की हिसा का अपराधी हो जाता है और उसके दण्ड स्वरूप पाप-बन्ध कर लेता है।

अहिंसा की मान्यता

अहिसा को प्राय सभी विचारको ने 'परम-धर्म' कहा है। गोस्वामीजी ने तो श्रुतियो और सहिताओ की साक्षी-पूर्वक मन-वचन और काया की अहिसा को निराले ही ढग से निरूपित किया है -

परम धरम श्रुति विदित अहिंसा,
पर निन्दा सम अघ न गरीसा।

-रामचरित मानस/उत्तरकाण्ड/120-ख

किन्तु मानस मे ही उन्होने सत्य को भी परम-धरम कह दिया-

धरमु न दूसर सत्य समाना,
आगम निगम पुरान बखाना।

-अयोध्याकाण्ड/94

आगे चलकर गोस्वामीजी ने परम-धरम की एक और परिभाषा कर दी। उन्होंने परोपकार को भी परम-धरम कह दिया-

परहित सरिस धरम नहिं भाई,
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई

-उत्तरकाण्ड/40

यदि इन तीनो पंक्तियो को एक साथ पढा जाये तो मन मे एक उलझन पैदा होती है। एक प्रश्न उठता है कि परम-धरम तो एक ही होना चाहिए, वह तीन प्रकार का कैसे हो सकता है ? हर कही मुख्य या प्रधान, एक ही होता है। दो तो परम हो ही नही सकते। यह प्रश्न

बहुत दिन तक मन मे अनुत्तरित पडा रहा । एक दिन सुधी रामायणी, मध्यपदेश उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री शिवदयाल जी के सामने, चर्चा-वार्ता मे प्रसग पाकर मैंने यह पश्न रखा । उन्होंने सुगमता पूर्वक इसका समाधान कर दिया । उनका चिन्तन था-

-'हमारे पास कुछ करने के लिये मन, वाणी और शरीर, ये तीन ही साधन हैं । धर्म तो वही हो सकता है जो इन तीनो मे बस जाये, इन तीनो को पवित्र करे । वास्तव मे परम-धर्म तो एक ही है, और वह है 'अहिंसा' । अहिसा अपने आप मे एक परिपूर्ण जीवन-दर्शन है । मन का सारा सोच विचार, और मन के सारे संकल्प, अहिसा पर आधारित होने चाहिए और अहिसामय होने चाहिए । अत चिन्तन के स्तर पर अहिंसा ही परम धर्म है । हमारे कृत्य भर नहीं, हमारे भाव भी अहिसामय हो, यह अहिंसा की अनिवार्य शर्त है ।'

-'मन की वह अहिसा जब वाणी मे उतरती है तब सत्य को परम-धर्म की सज्ञा मिलती है । इसी प्रकार शरीर तथा साधनो के माध्यम से जब अहिसा की साधना की जाती है तब परोपकार या पर-हित को ही परम-धर्म कहना होगा । परन्तु वाणी और शरीर के ये दोनो परम-धर्म मिलकर अहिसा को ही श्रेय देगे । उसी की प्रतिष्ठा करेंगे ।'

ससार के सभी जीव दुखो से बचना चाहते है और सुखो की कामना करते हैं । दुखी होना कोई नही चाहता । हिसा ऐसा पाप है जो मरने वाले और मारने वाले दोनों के लिये दुखद है, दुख का मूल है । इसीलिए स्वभावत हम सभी हिसा से बचना चाहते हैं । अहिसा सभी के लिये सुखद है, अत सभी जीव स्वभावत अहिसक वातावरण मे रहना चाहते हैं ।

महाभारत मे अहिंसा का उपदेश पग-पग पर मिलता है । शान्तिपर्व मे एक जगह कहा गया है कि- 'अध्ययन, यज्ञ, तप, सत्य, इन्द्रिय-सयम एवं अहिसा-धर्म का पालन जिस क्षेत्र मे होता हो, वहीं व्यक्ति को निवास करना चाहिये'-

यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दमस्तथा ।
अहिंसाधर्मसंयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः
स वो देश· सेवितव्यो मा वो धर्मः पदास्पृश्यते ।

-महाभारत/शान्तिपर्व/340/-88-89

अहिसा को महाभारत मे नैतिक तथा धार्मिक दोनो दृष्टियो से सर्वोच्च प्रतिष्ठा दी गई है-

-'अहिसा परम धर्म है। अहिसा ही परम तप है। अहिसा ही परम सत्य है और अहिंसा ही धर्म का प्रवर्तन कराने वाली है। यही सयम है, यही दान है, यही परम ज्ञान है और यही दान का फल है। जीव के लिये अहिसा से बढ़कर हितकारी, मित्र और सुख देने वाला दूसरा कोई नही है'-

अहिंसा परमो धर्म, अहिंसा परमो तप ।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्म· प्रवर्तते ॥

अहिंसा परमो धर्मः अहिंसा परमो दम ।
अहिंसा परमं दानं अहिंसा परमं तप ॥

अहिंसा परमो यज्ञ. अहिंसा परमो फलम् ।
हिंसा परमं मित्रं अहिंसा परमं सुखम् ॥

-महाभारत/अनुशासन पर्व/115-23/116-28-29

अनुशासन पर्व मे ही कहा गया- 'देवताओ और अतिथियो की सेवा, धर्म की सतत् आराधना, वेदों का अध्ययन, यज्ञ-तप-दान, गुरु और आचार्य की सेवा तथा तीर्थों की यात्रा, ये सब मिलकर अहिसा की सोलहवी कला के बराबर भी नहीं हैं, अहिसा इन सबसे श्रेष्ठ है।'-

देवतातिथि-सुश्रूषा सततं धर्मशीलता ।
वेदाध्ययन-यज्ञाश्च तपो दानं दमस्तथा ॥

आचार्या-गुरु-सुश्रूषा तीर्थभिगमनं तथा ।
अहिंसाया वरारोहे कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

-महाभारत/अनुशासनपर्व/145

पुराणो में अहिसा को सर्व धर्मो मे श्रेष्ठ धर्म बताते हुये कहा गया- 'चार वेदो के अध्ययन से, या सत्य बोलने से, जितना पुण्य प्राप्त होता है, उससे कही अधिक पुण्य-प्राप्ति अहिंसा के पालन से होती है।'-

चतुर्वेदेषु यत् पुण्यं यत् पुण्यं सत्यवादिषु ।
अहिंसायान्तु यो धर्मो गमनादेव तत् फलम् ॥

-मत्स्य-पुराण/105-48

नारद-पुराण मे भी अहिंसा की महिमा गाई गई है- 'हे राजन! वह अहिसा सभी कामनाओ को पूर्ण करने वाली तथा पापो से छुडाने वाली है ।' -

अहिंसा सा नृप प्रोक्ता सर्वकामप्रदायिनी ।
कर्म-कार्य-सहायत्वमकार्यं परिपन्थता ॥

-नारद पुराण/16-22

ब्रह्म पुराण मे देवी पार्वती द्वारा यह पूछने पर कि मुक्ति के पात्र कौन होते है, शिव ने उत्तर मे कहा- 'मन, वचन और काया से जो पूरी तरह अहिसक रहते हैं, और जो शत्रु और मित्र दोनों को समान दृष्टि से देखते है, वे कर्म-बन्धन से छूट जाते है । सभी जीवो पर दया करने वाले, सब प्राणियो मे क्षमा भाव धारण करते हुए, सभी जीवो मे आत्मा का दर्शन करने वाले, और मन से भी किसी जीव की हिंसा न करने वाले स्वर्गो के सुख भोगते हैं'-

कर्मणा-मनसा-वाचा ये न हिंसन्ति किंचन ।
तुल्यद्वेष्य-प्रियादान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनै· ॥
सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्था सर्वजन्तुषु ।
त्यक्तहिंस-समाचारास्ते नरा स्वर्गगामिन. ॥

-ब्रह्म-पुराण/224/8-9

शान्तिपर्व मे अन्तिम निष्कर्ष निकालते हुये हिसा को सबसे बडे अधर्म ओर अहिसा को सबसे बडे धर्म के रूप मे रेखाकित किया गया है । उसी प्रसग मे यह भी लिखा गया है कि- 'जीवो के लिये अहिसा से बड़ा कोई धर्म नही है, क्योंकि इसके द्वारा प्राणियो की रक्षा होती है और किसी को भी कोई कष्ट नही होता ।'-

अहिंसा सकला धर्मोऽहिंसाधर्मस्तथाहित:
न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन ।
यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कथंचन ॥

-महाभारत/शान्तिपर्व/272-20/262-30

जैन मुनि के आचरण में दोनो प्रकार की हिंसा का त्याग अनिवार्य बताया गया है । राग-द्वेष के सम्पूर्ण अभाव में ही पूर्ण अहिसा का पालन सम्भव होता है ।

दौलतराम जी ने मुनियो की जीवन पद्धति दर्शाते हुये कहा- ''सूक्ष्म एक-इन्द्रिय से लगाकर सज्ञी-पचइन्द्रिय तक छहो प्रकार के जीवो की हिसा का त्याग होने से मुनि जन द्रव्य-हिंसा से विरत रहते है, और राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया लोभ आदि विकारी भावों से रहित होने के कारण वे भाव-हिसा से विरत है। इस प्रकार वही सच्चे और परिपूर्ण अहिंसक होते है।''-

षटकाय जीव न हनन तैं
सब विधि दरब-हिंसा टरी,
रागादि भाव निवारतैं
हिंसा न भावित अवतरी।

-छहढाला/6-1

द्वादस-अनुप्रेक्षा और दसलक्षण-धर्म-

इस प्रसग मे जैन-उपासना मे द्वादस-अनुप्रेक्षा और दस लक्षण धर्मो पर विशेष जोर दिया गया है। अनित्य-अशरण-ससार आदि अनुप्रेक्षाओ के द्वारा ससार की क्षण-भगुरता का चिन्तन किया गया है। एकत्व और अन्यत्व भावना मे जीव की असहाय, एकाकी, निराश्रय स्थिति पर विचार किया गया है। अशुचि और आस्रव भावना मे देह की दशा पर विचार करते हुए कर्मो के आने और आत्मा के साथ बॅधने के कारण तलाशे गये है। सवर और निर्जरा अनुप्रेक्षाए चिन्तक को मुक्ति के उपाय बताती हैं। लोक-भावना भूत-भविष्य और वर्तमान के सदर्भो मे उसे उसकी वास्तविकता से परिचित कराती है। बोधि-दुर्लभ-भावना मे यथार्थ ज्ञान की दुर्लभता का विचार है, तथा अत में धर्म-भावना के द्वारा जीव को अपने स्वभाव कीओर या यो कहें कि उसके निज-धर्म की ओर प्रेरित किया जाता है।

इसी प्रकार दसलक्षण धर्म मे क्षमा-मार्दव-ऋजुता और शुचिता आदि के द्वारा साधक को क्रोध-मान-माया-लोभ के त्याग से लेकर आकिचन्य और ब्रह्मचर्य के माध्यम से ब्रह्म मे लीन हो जाने तक का यात्रा-पथ प्रदर्शित किया गया है। ध्यान देने की बात यह है कि बारह-भावनाओं मे और दशलक्षण धर्मो मे कही अहिसा का नाम नही है। अहिंसा इन सबसे ऊपर, इन सबका अतिम लक्ष्य मानी गई है। अहिसा को साधन नही, साध्य माना गया है। अहिसा की चरम और

परम स्थिति प्राप्त करने के ही ये सब उपाय हैं। अहिसा से बडा कोई धर्म है ही नही।

जैनाचार पद्धति मे गृह-निवास करने वाले गृहस्थो और गृह-त्याग कर तपस्या करने वाले मुनियो के लिये धर्म के दो भेद किये हैं। गृहस्थो के लिये 'सागार-धर्म', और मुनियो के लिये 'अनगार-धर्म'। इसी आधार पर अहिसा, सत्य, अस्तेय, शील और अपरिग्रह, इन पाच व्रतो को भी दो प्रकार से कहा गया है। पाच पापो का आशिक त्याग, जो गृहस्थो के लिये साध्य है, उसे 'पच-अणुव्रत' रूप मे निर्देशित किया गया और इन्ही पाच पापो का सम्पूर्ण त्याग, जो केवल मुनियो के द्वारा साध्य है, पाच-महाव्रतो के नाम से कहा गया।

भाव-हिंसा और द्रव्य-हिंसा-

हिसा मन-वाणी और शरीर तीनो के माध्यम से होती है। परन्तु जब हिसा की बात आती है तब प्राय वाणी और शरीर के माध्यम से होने वाली हिसा को रोकने पर जोर दिया जाता है। मन के माध्यम से होने वाली हिसा को रोकना अनावश्यक या असम्भव मानकर, उसकी चर्चा छोड दी जाती है।

जैनाचार्यो ने मन के माध्यम से होने वाले पापो को रोकने पर अपेक्षाकृत अधिक जोर दिया है। उनकी मान्यता है कि मन के पाप रोके बिना वचन और तन के पाप नही रोके जा सकते। उन्होने यह भी माना है कि जीव को अपनी करनी से जो कर्म बन्ध होता है उसमे फल देने वाली शक्तियॉ उसके मानसिक व्यापार के आधार पर ही उत्पन्न होती हैं।

इस चिन्तन के आधार पर जैन संतों ने हिंसा को 'भाव-हिसा' और 'द्रव्य-हिसा' के रूप मे दो प्रकार से कहा है। प्राणियो को पीडा पहुचाने का, या उनके घात का विचार करना 'भाव-हिंसा' है। प्राणियो को पीडा पहुचाने वाली और उनका घात करने वाली क्रिया 'द्रव्य-हिसा' है।

मूल में भाव-हिसा अनिवार्य रूप से मौजूद रहती है। परन्तु यह आवश्यक नही है कि जहॉ भाव-हिसा हो वहाँ उसके फल-स्वरूप द्रव्य-हिसा हो ही जाय। इसका कारण यह है कि किसी का विघात केवल हमारे सोचने से, या हमारे कुछ करने मात्र से नही हो जाता।

जीव का विघात होने मे, उसका अपना प्रारब्ध तथा अन्य अनेक बाहरी कारण भी महत्व रखते हैं ।

यह निश्चित है कि किसी का विघात हो या न हो, हिसा के परिणाम करने वाले जीव को उस विघात का पाप लगता है । उसका फल भी उसे भोगना पडता है । इस प्रकार हमारे कर्म-बन्ध में द्रव्य-हिसा से अधिक भाव-हिसा का महत्व है ।

इससे एक तथ्य यह भी प्रगट होता है कि अपने मन की मलिनता के कारण हम ऐसे अनगिनत पापो का फल भोगते हैं जो हमने कभी किये ही नही होते । केवल चित्त की चचलता के कारण, और राग-द्वेष की तीव्रता के कारण, तरह-तरह के कुत्सित विचार हमारे मन मे उठते रहते हैं । उनके दुखद परिणाम भोगने के लिये हम मजबूर हैं ।

भाव-हिंसा और द्रव्य-हिसा की तरह सभी पाप-वृत्तियो को मानसिक स्तर पर और भौतिक या स्थूलता के स्तर पर, दो प्रकार से समझा जाना चाहिये । झूठ भी 'भाव-झूठ' और 'द्रव्य-झूठ' के प्रकार से दो तरह का है । चोरी ओर कुशील भी इसी तरह दो-दो प्रकार के है । इसी प्रकार परिग्रह को भी मानसिक और भौतिक स्तर पर बाटकर समझना होगा ।

लौकिक न्याय-पद्धतियो मे भी भाव-हिसा को द्रव्य-हिसा से अधिक महत्व दिया जाता है । विश्व की सारी न्याय-व्यवस्था इसी आधार पर अवलम्बित है । इसे एक उदाहरण से समझेगे ।

किसे कितनी सजा-

हमारे नगर मे एक दिन तीन घटनाये घट जाती हैं । तीनो मे एक-एक व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है । एक व्यक्ति को लूटने के लिये कोई डाकू उसके सीने मे छूरी भोक देता है । दूसरी जगह किसी वाहन दुर्घटना मे एक व्यक्ति कुचल कर मर जाता है । तीसरी घटना में एक मरीज ऑपरेशन की टेबिल पर शान्त हो जाता है ।

तीनो घटनाओ मे एक-एक व्यक्ति के निमित्त से एक-एक व्यक्ति का जीवन समाप्त हो जाता है । इस प्रकार स्थूल दृष्टि से तीनों घटनाओ का प्रतिफल एक होते हुए भी तीनों व्यक्तियो की मानसिकता मे बहुत अन्तर है । उनके अभिप्राय एकदम अलग-अलग हैं । इसीलिए पुलिस डायरी में, और न्यायालय के फैसले मे, डाकू, ड्राइवर और

डॉक्टर, इन तीनो के लिये जुदी-जुदी व्यवस्था होगी। उनका अपराध घटना के प्रतिफल से नही, उनके मानसिक सकल्पो से तौला जायेगा।

डाकू को व्यक्ति की हत्या का दोषी ठहराया जायेगा और मृत्यु दण्ड जैसा कठोर दण्ड दिया जायेगा। उसके द्वारा आहत व्यक्ति यदि एक बार बच भी जाये तब भी डाकू को हत्या के प्रयास के लिये दण्डित किया जायेगा।

ड्राइवर को हत्या का दोषी नही ठहराया जा सकता। उसे घटना के तथ्यो के अनुरूप या तो अयोग्य वाहन चलाने, अथवा असावधानी से वाहन चलाने का दोषी मानकर कुछ हल्का दण्ड दिया जायेगा।

परन्तु डॉक्टर को, अन्तिम साँस तक रोगी को बचाने के उपाय करने के लिये सराहा जायेगा। पुलिस और कानून तो उससे कुछ बोलेंगे ही नही, रोगी के सम्बन्धी भी उसका उपकार ही मानेंगे कि- 'आपने तो अन्त-अन्त तक प्रयत्न किया, परन्तु उसकी आयु समाप्त हो गई थी, या हमारा भाग्य ही ऐसा था।'

लोक-परलोक की व्यवस्था, कर्म-बन्ध और कर्म-फल का गणित भी लौकिक कानून के अनुरूप, पूरी तरह ऐसे ही प्राकृतिक न्याय पर आधारित है। भौतिक-हिसा का स्वरूप चाहे जैसा हो उसमे सलग्न सभी लोगो को अपनी-अपनी भाव-हिसा के अनुसार कर्म-बन्ध होता है। इसीलिये तो कभी-कभी दूर बैठा हुआ व्यक्ति उस पाप का भागीदार होता है जबकि साक्षात् सलग्न दिखाई देने वाला व्यक्ति उतना भागीदार नही होता। कोई करता हुआ दिखाई देता है पर यथार्थकर्ता नही है। कोई करता नही है फिर भी उसे कर्म का फल भोगना पडता है। भावो की ऐसी ही विचित्रता है। इसीलिये पाप मे जाते मन को अकुश लगाने की आवश्यकता है। मानसिक पाप ही भाव-हिसा है।

विचित्र हैं हिंसा के समीकरण

द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा के ऐसे-ऐसे समीकरण बनते रहते हैं कि कई बार हिंसा और अहिंसा का गणित कुछ विचित्र सा लगने लगता है। जैसे कहीं हिंसा एक व्यक्ति करता है और उससे होने वाला पाप-बध अनेकों को होता है। या हिसात्मक कार्य अनेक लोग मिलकर करते हैं परन्तु उसका फल एक ही व्यक्ति को भोगना पडता है।

करे एक · भोगें अनेक-

कुछ लोग पशु-पक्षियो को लेकर क्रूर खेलो का प्रदर्शन करते हैं। इन खेलो मे अनेको पशु-पक्षियो का निर्दयता-पूर्वक घात कर दिया जाता है। खेल का आयोजन या दिखाने का कार्य कुछ लोग करते हैं। वे तो पाप के भागी होते ही हैं परन्तु हजारो लोग जो उन खेलो को देखने जाते है, उन्हे प्रोत्साहित करते हैं और उनकी प्रशसा-अनुमोदना करते है, वे सब भी उस हिसा के भागीदार होते हैं। यहाँ करने वाला एक होता है, या कुछेक होते है, परन्तु उसका फल भोगने वाले अनेक या बहुत अधिक लोग होते है।

करें अनेक : भोगे एक-

एक राज्य का स्वामी दूसरे राज्य पर आक्रमण करके उसके साथ युद्ध छेड देता है। हजारो सैनिक एक दूसरे को मारते हुये मर जाते हैं। यहा हिसा का कारण सिर्फ युद्ध छेडने वाला व्यक्ति ही है। वही वास्तव मे हिसक है और उस पूरी हिसा का जिम्मेदार है। सैनिक तो केवल अपनी आजीविका के लिये शस्त्र चलाते हैं। उन्होने ऐसी नौकरी चुनी, या मजबूरी मे उन्हे ऐसी नौकरी स्वीकार करनी पडी, जिसमे दूसरो के हित के लिये किसी को मारना पडता है या स्वय मरना पडता है। उतनी दूर तक वे उसका फल भी भोगेगे, परन्तु यहाँ करने वाले अनेक होते हैं, और उसका फल भोगने वाला एक होता है।

करें थोड़ा भोगे बहुत-

हिसा के तीव्र परिणामो मे यदि हिसा अल्प भी होगी तो भी उस हिसा का तीव्र फल भोगना पडेगा। किसी के परिणाम तो अधिक तीव्र-हिसा के नही है, परन्तु अचानक उसके हाथ से हिंसा अधिक हो गई, ऐसी हालत मे अधिक हिसा होते हुए भी फल अल्प ही भोगना पडेगा। कभी-कभी ऐसा हुआ है कि बालक की आदते सुधारने के लिये माँ ने उसे एक-दो चाँटे मारे और कही मर्म-स्थल पर चोट लगने के कारण बालक की मृत्यु हो गई। ऐसी घटना मे माँ को हत्यारिन नही कहा जाता। उसे हत्या का पाप भी नही लगेगा।

करें समान · भोगें हीनाधिक-

कभी काई लोग मिलकर हिसा का कोई कार्य करते हैं। ऐसा समझना ठीक नही होगा कि उसका फल भी उन्हें एक सा लगेगा। कार्य करते समय उसे लेकर सबकी भावनाए जुदी-जुदी है। किसी के मन मे तीव्रता है, किसी के मन मे मदता है। हो सकता है उस समय किसी के मन मे उस कार्य के प्रति अरुचि भी हो। कार्य सम्मिलित प्रयत्नो से हुआ है फिर भी अपनी-अपनी भावनाओ के अनुरूप किसी को हिसा का अधिक फल भोगना पडेगा और किसी को कम फल ही भोगना होगा।

करें बाद में : भोगें पहले-

हिंसा के सकल्प मे और हिसा की क्रिया मे समय-भेद होता है। पाप-बध तो सकल्प के साथ ही हो जाता है। हिसा बाद मे होती रहती है। ऐसे मे कई बार हिसा होने के साथ ही साथ हिसक को उसका फल भी मिल जाता है। कई बार फल पहले मिल जाता है, हिसा बाद मे होती रहती है।

करे कोई · भरे कोई-

कई बार अनजान व्यक्ति को, या भोले बालको को फुसलाकर किसी को गोली का निशाना बनवा दिया जाता है। कई बार किराये के हत्यारो के माध्यम से अपनी राह का रोडा हटाया जाता है। ऐसी हालत में जिसके हाथ से प्राणि-घात होता है उसे उतनी हिंसा नही लगती जितनी उसे प्रेरित करने वाले को लगती है। पाप के लिये प्रेरणा देने वाला ही वास्तविक पापी माना जाता है।

इस प्रकार हिसा की योजना और हिसा की क्रिया के अनुसार उसके समीकरण बदल जाते हैं। परन्तु यह अटल नियम है कि हिसा के अपराधी को भाव-हिंसा के अनुरूप फल भोगना ही पडता है। कर्म की अदालत में प्राकृतिक न्याय होता है। वहाँ कोई छल-कपट नहीं चलता।

चार मनस्थितियाँ : चार परिस्थितियाँ-

मन, वाणी और शरीर के दुष्प्रयोग से होने वाली हिसा मे चार सम्भावनाए बनती है -

१ एक व्यक्ति ने खेत पर एक साँप देखा, उसे मारने का विचार किया और डण्डा उठाकर उसे मार डाला। यह भाव-हिसा के अनुरूप द्रव्य-हिसा घटित हो गई।

२ उसने डण्डा उठाया तब तक साँप भाग गया। वह चाहते हुए भी उसे मार नही पाया। यहाँ भाव-हिसा तो हुई परन्तु द्रव्य-हिसा घटित नही हुई।

३ एक व्यक्ति बैलगाडी हाँक रहा था। धोखे से साँप उसके नीचे कुचल कर मर गया। साँप को मारने का उसका कोई इरादा नही था। यहाँ भाव-हिसा का सर्वथा अभाव था, परन्तु द्रव्य-हिसा हो गई।

४. एक व्यक्ति खेत पर साँप को देखकर भी उसे मारने का विचार नहीं करता। वह सोचता है- 'इसने अपना कुछ बिगाडा नही, व्यर्थ इसके प्राण लेने से मुझे क्या प्रयोजन?' यहाँ न तो भाव-हिसा है और न ही द्रव्य-हिसा है।

चारो स्थितियो मे हिसा के पाप का फल अलग-अलग होगा।

इसी प्रकार मन-वाणी और शरीर के अनुशासन से अहिसा मे भी चार सम्भावनाए बनती हैं -

१ हिसा-त्याग की भावना से रहित, अमर्यादित राग-द्वेष-मोह से भरा हुआ स्वच्छन्द जीवन, जहाँ व्रत और पाप-त्याग के बिना निरन्तर भाव-हिसा हो रही है, और मन-वचन-काय के असयम के कारण प्रतिक्षण द्रव्य-हिसा भी हो रही है। यहा न भाव-अहिसा है, न द्रव्य-अहिसा है।

२ कोई बहेलिया जाल फैलाकर बैठा है। सयोगवश एक भी पक्षी जाल मे नही फँसा। यहाँ भाव-अहिसा नही है द्रव्य-अहिसा है।

३. कोई डॉक्टर ऑपरेशन कर रहा है। यहा रोगी के तन-मन को पीडा तो हो रही है, पर वह उसे कष्ट देने के लिये नहीं, आराम

पहुँचाने के लिये दी जा रही है। यहाँ भाव-अहिसा तो है, परन्तु द्रव्य-अहिंसा नही है।

४. कोई सात्विक व्यक्ति संकल्प करता है कि अमुक समय तक ऐसी सावधानी से चलना है कि मेरे द्वारा किसी जीव की हिसा न हो जाये। वह ऐसे यत्नाचार-पूर्वक अपने आवश्यक कार्य कर भी लेता है कि किसी जीव की हिसा उसके माध्यम से नही होती। यहाँ भाव-अहिसा है और द्रव्य-अहिसा भी है। यहाँ भी चारो स्थितियो मे मनोभाव के अनुरूप फल जुदे-जुदे होगे।

हिंसा-प्रतिहिंसा की अंतहीन श्रृंखला-

कुछ लोग हिंसा के जवाब मे हिंसा के द्वारा ही उसका उत्तर दे देना आवश्यक और उचित मानते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि इस प्रकार प्रतिहिंसा के प्रयोग से हिंसा को समाप्त किया जा सकता है। परन्तु ऋषि-मुनियो के वचनो से, और अपने अनुभव से भी यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि प्रतिहिसा किसी हिंसा को रोकने या समाप्त करने का उपाय नही है। उससे तो हिसा और पनपती है। बैर-विरोध को और प्रोत्साहन ही मिलता है। बैर की वह वासना जन्मान्तर तक जीव के साथ रहती है। अवसर पाते ही वह अपना बदला लेती है। इस प्रकार हिंसा-प्रतिहिंसा की यह श्रृखला अतहीन होती चली जाती है।

इस प्रसग मे सदन कसाई की कथा याद आती है। सदन किसी धनिक की भोजनशाला के लिये मास की व्यवस्था करता था। एक दिन खाने वाले अधिक नही थे अत सदन ने विचार किया- 'बकरे को पूरा काटने से क्या लाभ? जितना चाहिये उतना ही मास निकालू ताकि कल भी ताजा मास मिल सके।'

सदन छुरी लेकर बकरे के सामने आया। उसे देखकर बकरा हँस पडा। पूछने पर बकरे ने कहा- 'अब शायद हमारी दुश्मनी घट जायेगी। एक जन्म में तुम मुझे कसाई बनकर काटते हो, फिर दूसरे जन्म में तुम बकरा बनकर जनमते हो और मै कसाई बनकर तुम्हे काटता हूँ यह सिलसिला अनेक जन्मों से चला आ रहा है। आज तुम सिर्फ अग-भग करने के इरादे से आये हो न? यदि ऐसा हो तो

हमारी दुश्मनी कुछ तो घटेगी। हर जन्म मे थोडी-थोडी भी घटती रही तो किसी दिन समाप्त भी हो जायेगी। आज जितना मास तुम लोगे, अगले जन्म मे मै तुम्हारे शरीर से उससे कुछ कम ही लूगा।'

कहते है सदन हाथ की छुरी हमेशा के लिये फेक कर भाग आया। फिर उसके जीवन की दिशा ही बदल गई। सोचना चाहिये कि कैसे घटे प्रतिहिसा का व्यवहार?

आग को कैरोसिन और पैट्रोल से नही बुझाया जा सकता। उसे बुझाने के लिये पानी की ही व्यवस्था करनी पडेगी। हिसा को भी प्रतिहिसा या क्रोध से कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। क्षमा और समता से ही उस वासना को निर्मूल किया जा सकता है। उसके लिये अन्य कोई उपाय नही है।

हिंसा के पक्ष में थोथे तर्क-

जैसे-जैसे हिसा का प्रसार होता गया और मांसाहार बढता गया, वैसे ही वैसे इन्द्रिय-लोलुप व्यक्तियो ने अपनी करनी को तर्क के आधार पर उचित ठहराने के प्रयत्न भी किये। कुछ शास्त्रो में क्षेपण करके हिसा-समर्थक प्रसग भी जोडे गये, अर्थ का अनर्थ किया गया। अनेक असगत मान्यताओ का आधार लेकर हिसा को पुण्य और धर्म से भी जोडा गया। उसमे से कुछ धारणाओ का हम यहाँ उल्लेख करेगे-

देवताओ के लिये हिंसा करना।

पूज्य पुरुषो के स्वागत-सत्कार मे हिसा करना।

शाकाहार मे अनेक जीवो की हिसा होती है परन्तु मासाहार मे केवल एक ही जीव की हिसा होती है, इसलिये मासाहार ही भला है, ऐसा मानना।

हिसक जीवो को मार देने से अनेक जीवो की रक्षा होती है ऐसा मनकर हिसक प्राणियो की हिसा को उचित ठहराना।

इसी प्रकार हिसक मनुष्यो का वध भी उचित मानना।

दुखी जीवो को दुख से छुडाने के लिये मार डालना।

सुखी जीव को मार देने से दूसरे भव मे उसे वैसा ही सुख मिलता है, अत किसी जीव को सुखी स्थिति मे मार देना।

समाधि से सुगति की प्राप्ति होती है, ऐसा मानकर, समाधिस्थ साधु का सिर काट लेना । समाधिस्थ दशा मे मरेगा तो सीधा मोक्ष जायेगा, ऐसा मानकर अपने गुरु का ही घात कर देना ।

दूसरे को भोजन कराने के लिये अपने शरीर का मास निकाल कर दे देना, इस प्रकार अपना घात करना ।

उपरोक्त क्रियाये हिसा ही हैं । मनमाने आधार देकर इन क्रियाओ को धर्म मानना, या हिसा-रहित बताना न तो तर्क की कसौटी पर खरा उतरता है, और न ही पाप-पुण्य के सदर्भ मे उसका कोई औचित्य सिद्ध होता है । जो हिसा करेगा वह नियम से पाप का भागी होगा । जो अग्नि मे हाथ डालेगा वह नियम से जलेगा ।

अंगुलिमाल का गणित-

वह एक डाकू था । आते-जाते राहगीरो को लूटना उसका रोज का काम था । जिन्हे लूटता-मारता था उनकी अगुली की एक हड्डी वह अपने गले की माला मे जोडता जाता था । माला रोज-रोज बढती जा रही थी । लोग उसका असली नाम जानते ही न थे । उनके लिये उसका नाम था दस्यु 'अगुलिमाल' ।

एक दिन कोई बुद्धिमान व्यक्ति अगुलिमाल के व्यूह मे फँस गया । 'जो तुम्हारे पास है, निकाल कर यहा रख दो और मरने के लिये तैयार हो जाओ ।' अगुलिमाल ने धमका कर कहा ।

'भाई, तुम कौन हो, हमने तुम्हारा क्या बिगाडा है? तुम्हे जो चाहिये सो ले लो, पर हमे मारना क्यो चाहते हो?'

-'मै अगुलिमाल हू । इस रास्ते पर आये हो तो तुमने मेरा नाम अवश्य सुना होगा । मै भिक्षा नहीं मागता । बलपूर्वक छीनकर लेता हूँ । यही मेरे परिवार की आजीविका है । जिसे मारता हूँ उसकी अगुली की एक हड्डी इस माला मे जोड लेता हूँ ।' अंगुलिमाल ने घुटनो तक झूलती अपनी माला दिखाते हुए उत्तर दिया ।

-'मुझे तुम पर दया आती है । अपना परिवार पालने के लिए तुमने यह मार्ग चुना जिसमे निरपराध लोगो को लूटते हो और उनका प्राण-हरण करते हो । जानते हो तुम्हे अगले जन्म मे इस पाप का फल भोगना होगा । क्या उस समय तुम्हारे परिवार वाले इस पाप में हिस्सा बटाने के लिए तुम्हारे साथ होगे?'

-'हम यही बैठे है, भागेगे नहीं। एक बार जाकर अपने परिवारजनो से पूछ तो लो कि वे केवल तुम्हारी कमाई के भागीदार है या पाप-पुण्य मे भी भागीदारी निभायेगे?'

भद्र पुरुष के आत्म-विश्वास ने और उनकी गम्भीरता ने अगुलिमाल को प्रभावित कर लिया था। वह चुपचाप अपने बसेरे की ओर गया और थोडी ही देर मे वापस लौट आया।

-'आपकी आशका टीक थी श्रीमान्! मेरे कुटुम्बी कहते हैं- हम सब आपके आश्रित है। हमारा पालन-पोषण आपका कर्तव्य है। उसके लिये हमने तो आपसे लूट और हत्या का मार्ग अपनाने को नही कहा। आप स्वेच्छा से जो कुछ करते है, उसके फल से हमारा क्या सम्बध?' अगुलिमाल का स्वर एकदम बदला हुआ था। वह परलोक के भय से भीतर ही भीतर कॉप रहा था।

-'उन्होने ठीक कहा है अगुलिमाल! ससार मे सब को अपने भले-बुरे कृत्य का फल स्वय ही भोगना पडता है। उसमे कोई भागीदार हो ही नही सकता। तुमने इस घोर पाप मे जीवन का एक बड़ा भाग खो दिया। परन्तु अभी विलम्ब नही हुआ। पाप का मार्ग छोडकर अब भी तुम अपने आप को सुधार सकते हो। भगवान की भक्ति का सहारा लेकर इसी जन्म मे अपने सारे पाप समाप्त भी कर सकते हो।'

अंगुलिमाल का हृदय-परिवर्तन हो चुका था। अब वह एक दूसरा ही व्यक्ति था। दूसरे ही क्षण वह 'अगुलिमाल' उसके गले से निकल कर एक ओर जमीन पर पडी थी और उसे गर्व से धारण करने वाला दस्यु अगुलिमाल उन भद्र पुरुष के चरणो मे लोट रहा था। कल्याण के मार्ग पर चलने का सकल्प ले रहा था।

व्यक्ति विवेक का सहारा लेकर और धर्म पर आस्था बनाकर अपने जीवन मे कितना परिवर्तन कर सकता है, वह नर से नारायण बनने की दिशा मे आगे बढ सकता है, इसका उदाहरण बना अंगुलिमाल।

हिंसा के भेद-

यह सृष्टि सूक्ष्म और स्थूल, स्थिर और जंगम जीवों से ठसाठस भरी हुई है। यहा कोई स्थान, और कोई पदार्थ जीव-विहीन नही है, इसलिये मनुष्य को पूर्ण अहिसक हो जाना सभव नहीं। मन-वचन और काय की प्रवृत्ति होती रहे और हिंसा न हो, ऐसा संभव नहीं है।

ऐसी स्थिति मे हिंसा से बचकर, अहिंसा की ओर जीवन को प्रेरित करने के लिये जैन दार्शनिको ने अल्पतम हिंसा वाली जीवन-पद्धति का आविष्कार किया है। उन्होंने व्यावहारिक ढग से वर्गीकरण करके हिसा के चार भेद किये हैं-

१. संकल्पी-हिंसा **३. उद्योगी-हिंसा**

२. आरम्भी-हिंसा **४. विरोधी-हिंसा**

१. सकल्प पूर्वक किसी प्राणी को पीड़ा देना या उसका वध करना 'सकल्पी-हिसा' है। आतकवाद, साम्प्रदायिक दंगो, जाति विरोधी हमलो और मास-भक्षण के लिये की गई शिकार आदि प्रवृत्तियो मे होने वाली हिंसा इस परिभाषा मे आती है। धार्मिक अनुष्ठानो का बहाना लेकर की जाने वाली बलि आदि भी सकल्पी हिंसा है। मास-भक्षण भी इसी कोटि मे आता है।

२ अपने जीवन के लिये अनिवार्य कार्यो मे, भोजन बनाने, नहाने-धोने, वस्तुओ को उठाने-रखने, उठने-बैठने, सोने तथा चलने-फिरने मे अपरिहार्य रूप से जो जीव-घात होता है उसे 'आरम्भी-हिसा' कहा गया है।

३. आजीविका उपार्जन के लिये नौकरी मे, खेती मे ओर उद्योग-व्यापार मे अपरिहार्य रूप से जो जीव-हिसा होती है वह सब 'उद्योगी-हिसा' की परिभाषा मे आती है। इसमे यह स्मरणीय है कि अहिसा का समर्थक व्यक्ति अपनी आजीविका के लिये ऐसे ही कार्य-व्यापार चुनेगा जिसमे कम से कम जीव-घात हो। वह सदैव अपने आपको तथा अपने परिवार को अधिक या अनावश्यक हिसा वाले कार्यो से बचाने की चेष्ठा करेगा।

४. अपने कुटुम्ब-परिवार की रक्षा करते हुए अपने शील-सम्मान और सम्पत्ति की रक्षा करते हुए, अथवा धर्म तथा देश के प्रति अपने दायित्वो का निर्वाह करते हुए, किसी आततायी या आक्रमणकारी का सामना करते समय जो हिसा करनी पडे वह 'विरोधी-हिंसा' है।

साधक को गृहस्थ अवस्था मे अपनी आजीविका के लिये, अपने परिवार तथा समाज के लिये, और अपने राष्ट्र-धर्म तथा धर्मायतनों के

लिये, बहुत से कर्त्तव्य-पालन करने पडते हैं । उपरोक्त चारो प्रकार की हिसा का त्याग कर देने पर उन कर्त्तव्यो का निर्वाह नही हो सकता । इसलिये गृहस्थ को मात्र सकल्पी-हिसा के त्याग का उपदेश दिया गया है । उसके लिये आरम्भी-हिसा अपरिहार्य मानी गई है तथा विरोधी और उद्योगी-हिसा को भरसक बचाना और आपात्-धर्म मानकर उसमे प्रवृत्त होना उसके विवेक पर छोड दिया गया है ।

जीवन से पलायन नहीं है अहिंसा-

अहिसा की साधना मे लगा हुआ गृहस्थ हिसा के लिये हिसा नही करेगा । 'सकल्पी-हिसा' उसके आचरण से निकल जायेगी । वह व्यापार अथवा नौकरी आदि के द्वारा अपने परिवार की आजीविका का उपाय करेगा । परिवार की पालना और सुरक्षा करेगा, तथा अपने समाज पर, अपने देश, धर्म और साधु-सतो पर, तथा तीर्थो-मन्दिरो पर आने वाली बाधाओ का समुचित रूप से निराकरण करेगा । वह अपने राष्ट्र की अस्मिता की रक्षा के लिये आवश्यकता पडने पर शस्त्र भी उठायेगा, मारेगा भी और मरेगा भी । फिर भी इससे उसकी अहिसा कही खण्डित नही होगी ।

मन मे गौरवान्वित होकर विचारना कि 'मैने अमुक जीव का घात किया है' और लज्जित होकर पश्चाताप करना कि- 'नही चाहते हुए बहुत बचाते हुए भी, आज मेरे द्वारा अमुक जीव का घात हो गया है' इन दोनो मनस्थितियो मे बडा अन्तर है । 'हिसा करना है करके रहूगा' और 'हिसा से बचना है, मुझे हिंसा करनी पड रही है' इन दोनो सकल्पो मे जो अतर है, वही गृहस्थ को छोटी-मोटी अपरिहार्य हिसा के बावजूद 'अहिसक' बनाये रखता है । वह हिसक नही है । हिसा उसे करनी पड रही है । कर्त्तव्य भावना से कठोर होता है ।

अहिसा से व्यक्ति का जीवन निष्पाप बनता है, और प्राणि-मात्र को अभय का आश्वासन मिलता है । इस व्यवस्था से प्रकृति के सतुलन को बनाये रखने मे भी सहायता मिलती है । पर्यावरण को सरक्षण मिलता है । इसीलिये तो सतो ने मनुष्य के सयत आचरण को जीव-मात्र के लिये कल्याणकारी कहा है ।

इस विधान से यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अहिसा का अर्थ कायरता नहीं है। जीवन से पलायन भी अहिंसा का उद्‌देश्य नही है। अहिसा तो जीवन को व्यावहारिक और सतुलित बनाते हुये स्व और पर के घात से बचने का उपाय है। मानव मे मानवता की प्रतिष्ठा का उपाय अहिसा है।

जीवों के दो प्रकार त्रस और स्थावर-

संसार के समस्त प्राणी 'त्रस' और 'स्थावर' के रूप मे दो प्रकार के है। कही-कही इन्हे स्थावर और जगम जीव भी कहा गया है। स्वत जो चल-फिर नही सकते ऐसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति ये पाच स्थावर या स्थिर जीव हैं। इनके अतिरिक्त जो चलते-फिरते दिखाई देते है वे सब त्रस या जगम जीव हैं। अत्यत सूक्ष्म कीटाणुओ से लगाकर, जलचर, नभचर और थलचर, पशु-पक्षी, मनुष्य और देवता आदि सृष्टि के समस्त प्राणी इस त्रस या जगम की परिभाषा में आते हैं।

साधक को अपना जीवन-निर्वाह करने के लिये जो कार्य करने पडते हैं उनमें स्थावर जीवो की हिंसा निरतर होती रहती है। वह जीवन की अनिवार्यता है, अत उसके त्याग का उपदेश नही दिया गया। इतनी अपेक्षा अवश्य की गई है कि अहिसा का आदर करने वाला व्यक्ति अग्नि, जल, वायु और वनस्पति आदि का भी यत्नाचार पूर्वक उपयोग करेगा। उसके आचरण से इन स्थावर जीवो का भी निरर्थक विनाश नहीं होगा। उसकी असावधानी या लापरवाही से यदि इन स्थावरो का भी आवश्यकता से अधिक घात होता है तो वह अपराध है।

त्रस जीवो की रक्षा के लिये तो साधक को प्रतिक्षण सावधान रहना होता है। सुविचरित जीवन-शैली में कहीं भी, एक भी त्रस-जीव का विघात अनिवार्य नही है। उससे तो बचना ही चाहिए।

आज टी.वी.-रेडियो, नल-बिजली, पखा-कूलर, हीटर, गैस और स्टोव हमारे जीवन की प्राथमिक आवश्यकता मे आते हैं। उन्हें छोडा नहीं जा सकता। परन्तु लापरवाही पूर्वक कई बार उनका जो निरर्थक-

प्रयोग होता रहता है, बिना जरूरत वे खुले पडे रहते हैं, उसे रोककर हम अहिंसा के कुछ अधिक निकट पहुँच सकते हैं। वह फिजूलखर्ची है, नही करना चाहिये वह सब राष्ट्रीय अप-व्यय है, अत उसे रोकना एक तरह की देश-सेवा भी कही जा सकती है।

हिसा के दोष का निर्णय उसकी भावना के आधार पर ही किया जाता है। यह तो पहले ही समझा जा चुका है कि हिसा की नींव चार कषायो, क्रोध-मान-माया और लोभ पर आधारित है। कषाय होती है तो हिसा होती है। कषाय नही होती तब हिंसा भी नही होती। कषाय जितनी कम होगी, हिसा भी उतनी ही कम होगी।

इस प्रकार हिसा का स्तर निर्धारित करने के दो साधन है- जीव का आपसी अतर और कषाय की मात्रा। यदि सभी जीवो की हिसा का कुफल समान होता, या हिसा का पाप हिसित जीवो की सख्या पर निर्भर होता, तो एक व्यक्ति जो दो-चार गाजर-मूली उखाड लेता है, और दूसरा व्यक्ति जो एक मनुष्य की हत्या कर देता है दोनो को समान पापी माना जाता। बल्कि मनुष्य का हत्यारा कुछ कम पापी माना जाता क्योंकि उसने सिर्फ एक प्राणी की हिसा की है, परन्तु ऐसा नही होता। केवल इसलिये कि जिनका विघात हुआ है उन दोनो जीवो के स्तर मे अतर है।

स्थावर-जीव की हिसा के समय उसकी ओर से न कोई प्रतिकार होता है, न किसी तरह के दुख की भावना व्यक्त होती है, इसलिये पृथ्वी-जल-वायु-अग्नि और वनस्पति की हिसा के समय हिसक के मन मे विशेष क्रूरता या कषाय आना अनिवार्य नहीं है इसीलिये उस हिसा का फल भी अल्प है। जैसे-जैसे हम एक-इन्द्रिय से पच-इन्द्रिय प्राणी की हिसा की ओर बढते है, वैसे ही वैसे कषाय की मात्रा बढ़ती जाती है, परिणामो मे क्रूरता अनिवार्य होती जाती है। अत उसमे उत्तरोत्तर अधिक हिसा होती है। उसका फल भी वैसा ही अधिक होता है।

नई सभ्यता का अभिशाप : गर्भपात

विज्ञान ने एक ओर जहाँ हमें सुख-सुविधाओ के अनेक उपाय प्रदान किये हैं वही दूसरी ओर कुछ अभिशाप भी दिये है। यहाँ मुझे

एक ऐसे अभिशाप की ओर आपका ध्यान दिलाना है जो अमानवीय तो है ही, घोर पैशाचिक भी है ।

परिवार-नियोजन के लिये एक उपाय निकाला गया है गर्भपात । फिर विज्ञान ने एक और शोध की जिसके द्वारा यह जाना जा सकता है कि गर्भस्थ शिशु बेटा है या बेटी । निरतर बढती हुई जन्म-दर से घबराई सरकार, जब गर्भ-निरोधक उपायो से अपना लक्ष्य प्राप्त नही कर पाई तब उसने गर्भपात जैसी हत्यारी-प्रक्रिया को कानून का संरक्षण दे दिया । यद्यपि सरकार ने कुछ विशिष्ट परिस्थितियो मे, कुछ शर्तो के साथ ही गर्भपात को जायज माना है, परन्तु जिस देश मे कानून की धज्जियॉ उडा कर हर प्रावधान का दुरुपयोग करने की प्रथा पड गई हो,वहॉ यही कानून कैसे सुरक्षित रहता?

'सत्तर रुपये मे सुरक्षित गर्भपात' जैसे बोर्ड लगाकर तरह-तरह के विज्ञापन प्रसारित करके, आज गली-गली मे ये मानवता के स्लाटर हाउस खुलते जा रहे हैं । सरकार की विवेक-हीनता से आज हमारे देश मे गर्भपात कराना नाई की दुकान पर जाकर बाल कटाने जैसा सुगम और ब्यूटी पार्लर मे जाकर श्रृगार कराने जैसा सस्ता शौक हो गया है । अवैध गर्भ-धारण अब लाइलाज मर्ज नही रह गया । उससे मुक्ति पाने का यह उपाय निकल जाने से व्यभिचार की प्रवृत्ति उच्छृखलता की हद को छूने जा रही है । दम्पति गर्भस्थ शिशु का लिग-परीक्षण करा लेते हैं और यदि वह शिशु उनकी अभिलाषा के अनुकूल नही है तो गर्भपात के माध्यम से उसकी हत्या कर देते हैं ।

कितनी बड़ी विडम्बना है कि अपनी विलास-वृत्ति पर अकुश लगाने के बजाय, आज नारी इतनी निर्मम हो रही है कि वह मातृत्व को कलकित करने मे भी हिचकती नही है ।

पूरा मनुष्य है गर्भस्थ-शिशु-

गर्भपात के पक्ष मे प्राय यह तर्क दिया जाता है कि गर्भस्थ-भ्रूण मानव-शरीर के निर्माण की एक अविकसित या अर्द्ध विकसित दशा है । गर्भपात कराने में सिर्फ उस निर्जीव शरीर का ही विनाश होता है, किसी

प्राणी का वध नही । विज्ञान और कानून भले ही ऐसा मानते हो कि मनुष्य का जीवन उसके जन्म लेने के क्षण से प्रारम्भ होता है, परन्तु धार्मिक मान्यता ऐसी नही है । धर्माचार्य तो कहते है कि गर्भ मे आते ही वह भ्रूण एक सम्पूर्ण मनुष्य की गिनती मे आ जाता है ।

शास्त्रो का मत है कि यदि तीन महीने की अल्प-आयु मे किसी शिशु का मरण होता है तो वास्तव मे वह परलोक से एक वर्ष की आयु लेकर आया था । इस जन्म मे उसने वह एक वर्ष की आयु पूरी भोगकर ही मरण किया है । नौ महीने माता के पेट मे और तीन महीने धरती माता की गोद मे ।

पुराण कथाओ मे भी इसके अनेक प्रमाण प्राप्त होते है । महाभारत मे अभिमन्यु की कथा इसका सबसे ज्वलन्त प्रमाण है । अर्जुन ने अपनी पत्नी सुभद्रा को चक्र-व्यूह मे प्रवेश की विधि एक बार बताई थी । उस समय अभिमन्यु सुभद्रा के गर्भ मे थे । उन्होने वही उस विधि की धारणा कर ली थी । चक्र-व्यूह भेदने की कला पाण्डव-पक्ष मे अर्जुन को छोडकर कोई नही जानता था । अर्जुन ने यह कला कभी किसी को सिखाई भी नही, परन्तु अभिमन्यु ने माता के गर्भ मे इसका जो विवरण सुना था उसी के आधार पर, कुरुक्षेत्र के युद्ध मे उसने चक्र-व्यूह मे प्रवेश किया । व्यूह के बाहर निकलने की विधि जब अर्जुन सुना रहे थे, उस समय सुभद्रा की आख लग गई थी, इसलिये वह कला अभिमन्यु के पास नही थी ।

जैन दार्शनिको की यह स्पष्ट मान्यता है कि जीव की मनुष्य या पशु-पक्षी की पर्याय, माता के पेट मे गर्भाधान के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है । सभी पोतज और अण्डज प्राणियो मे ऐसी ही प्रक्रिया है, इसलिये अण्डा भी जीव है । जितनी देर मे हम एक बार साँस लेते है इससे भी कम समय मे गर्भस्थ भ्रूण की प्राकृतिक सज्ञाये पर्याप्त रूप से सचेष्ट हो जाती है । वह सास लेने लगता है और भूख, निद्रा तथा भय का सवेदन करने लगता है । वह एक पर्याप्त सक्षम-शिशु है ।

वैज्ञानिको ने भी पाया है कि गर्भपात के समय शिशु की चेष्टाओ मे परिवर्तन दिखाई देने लगते है । उसके हृदय की धडकन और सास की गति असामान्य रूप से बढ जाती है । उसके शरीर मे एक विशेष

प्रकार की सिहरन होने लगती है। वह एक अशक्त और असहाय प्राणी है। बाहर आ गया होता तब भी अपने प्राण बचाने के लिये वह माँ की ही शरण तो लेता। किन्तु गर्भपात के समय जब वही माँ स्वय उसकी हत्या मे सहायक हो रही है, तब वह अबोध प्राणी डरने और सिहरने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है?

आज गर्भ और गर्भपात का यह धार्मिक और वास्तविक पक्ष जन-जन तक पहुँचाने की आवश्यकता। आधुनिकता की चकाचौध में लिप्त आज की नारी को भी यह समझना चाहिये कि जिसे गर्भाशय से दूध की मक्खी की तरह निकाल कर फेका जा रहा है, वह कोई तुच्छ प्राणी नही है। वह इस सृष्टि का सबसे विकसित जीव है, वह पूरा मनुष्य है, वह आपकी ही सन्तान है। जिसे गर्भ मे धारण किया है, अपने हाथ से उसका गला घोट देना क्या राक्षसी कृत्य नही है? वह जीव यदि अपनी रक्षा नही कर पा रहा है तो यह भी सोचे कि जब आपको इस हत्या का पाप का फल पडेगा तब आपकी रक्षा कौन करेगा?

यदि सयोग से आपको मनुष्य जन्म मिला है तो अपना विवेक भी जाग्रत रखिये। ऐसा दुष्कृत्य मत कीजिए, जिससे सारी नारी जाति पर कलक की कालिख लगती है।

सात्विकता का शत्रु : मांसाहार

भोजन का हमारे विचारो से गहरा सम्बध है। यह कहावत बहुत सार्थक है कि-

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन, और

जैसा पीवे पानी, वैसी बोले वानी।

इसीलिये मन की पवित्रता को बनाये रखने के लिये खान-पान की शुद्धता पर जोर दिया जाता है। यदि हम अपने जीवन मे, और अपने व्यवहारो मे सात्विकता चाहते हैं तो हमें अपना भोजन-पान सात्विक रखना ही होगा।

मास-भोजन की उत्पत्ति क्रूरता के बिना नही होती। कटने वाले प्राणी की वेदना और काटने वाले की क्रूरता, दोनो का प्रभाव उस भोजन पर होता है। इसीलिये मासाहारी मनुष्य के मन मे कहीं न

कही, किसी न किसी हद तक, ऐसे क्रूर परिणाम होते हैं जिनका सात्विकता से कोई मेल नही है ।

आज हमारे देश मे हिसा का जो नगा-नाच हो रहा है, किसी हद तक मासाहार का अतिशय प्रचार-प्रसार भी उसका एक कारण है । पके-पकाये डिब्बा-बद भोजन के नाम पर न जाने क्या-क्या अखाद्य हमारे भोजन मे शामिल होता जा रहा है । फल-फूल की तरह गली-गली मे अण्डो के ठेले घूमते दिखाई देते है । हमारी नई पीढी मे यह नया फैशन अभी कुछ ही वर्षो मे देखते-देखते आया है ।

चिन्ता की बात यह है कि चारित्रिक पतन को 'आधुनिकता' और 'शिक्षितपने की निशानी' मानकर आज का युवक उस पर लज्जित होने के बजाय अपने आपको गौरवान्वित महसूस करता है । आज वैज्ञानिक विश्लेषण मे हानिकर सिद्ध होने के बाद मासाहार जब पश्चिमी देशो मे कम हो रहा है, तब हमारे यहा वह छूत के रोग की तरह फैल रहा है । उसके दुष्परिणाम सामने हैं तब भी ।

हिसा के और भी नये-नये तौर-तरीके, क्रूरता के अमानवीय और घृणित उदाहरण, रोज देखने-सुनने को मिल रहे हैं । प्लेन गिराकर, ट्रेने और बसे जलाकर, सैकडो शान्ति-प्रिय निर्दोष लोगो को अकारण मौत के घाट उतार देना सामान्य बात हो गई है । अपनी ही माता-बहिनो के साथ पैशाचिक दुष्कृत्य और भोले-नादान दुध-मुँहे बच्चो के जीवन के साथ राक्षसी बर्ताव की खबरो से हमारे अखबार भरे रहते हैं ।

यह तथ्य कम महत्व-पूर्ण नही है कि इस प्रकार के दुष्कृत्यो मे लगे हुये प्राय शत-प्रतिशत लोग मासाहारी है । भले ही मासाहार इसका एक मात्र कारण न हो, परन्तु प्रमुख कारण तो है ही । शाकाहारी समुदाय के समाज मे कभी, कही ऐसे अमानवीय कृत्यो की खबरे नही सुनी गई । मासाहार मनुष्य को अति-निर्दय और क्रूर बना देता है, इस तथ्य की पुष्टि के लिये और क्या प्रमाण चाहिये?

सभी धर्मों में मांसाहार-निषेध-

पशु-वध मासाहार का अनिवार्य अग है । पशु-वध के बिना मासाहार की कल्पना कभी नही की जा सकती । ऋषियो और सतों ने

आचार-संहिताओ मे जगह-जगह पशु-वध को पाप बताया है और मासाहार को नृशस-प्रवृत्ति बताते हुये उसका निषेध किया है ।

मनुस्मृति मे आर्य-खण्ड और म्लेच्छ-खण्ड की परिभाषा करते हुये लिखा गया है कि- 'जहा कस्तूरी मृगो का शिकार होता है वह म्लेच्छ-खण्ड है, और जहा वे निर्भय विचरते है वह आर्य-खण्ड है ।' महाभारत मे यह भी कहा गया है कि- 'मारे जाने वाले पशु के शरीर पर जितने रोम होते है, पशु-घातक को उतने हजार वर्ष तक नरक मे दुख भोगने पडते है ।'

यावंति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत,

तावद् वर्ष-सहस्राणि पच्यते पशु-घातक. । -महाभारत

मास-भक्षण को निन्दनीस कृत्स बतलाते हुए यह ी स्पष्ट कहा गया है कि - 'दूसरे प्राणी के मास से जो अपने शरीर के रक्त-मास बढाने की अभिलाषा करते है, संसार मे उनसे अधिक क्षुद्र कोई नही है । वे तो अत्सत निर्दय मनुष्य है -

स्वमांस परमांसेन, यो वर्धयितुमिच्छति,

नास्ति क्षुद्रतस्तस्मात, स नृसंसतरोनर ।

-महाभारत अनुशासनपर्व/116

विष्णु-पुराण मे मासाहारी मनुष्य को दूसरे के जीवन पर निर्वाह करने वाला निन्दनीय बताते हुये कहा गया कि- 'ऐसा व्यक्ति अगले जन्मो मे नीच कुल मे उत्पन्न होकर अल्पायु और दरिद्रता का जीवन व्यतीत करेगा'-

अल्पायुषो दरिद्राश्च, परकर्मोपजीविन·,

दुष्कुलेषु प्रजायन्ते, ये नरा मांसभक्षका. । -विष्णु-पुराण

गुरु ग्रन्थसाहब मे बताया गया है कि- 'जब थोडा सा रक्त लग जाने से पूरा वस्त्र कलकित और अपवित्र हो जाता है तब जो मनुष्य रक्त-मांस का भोजन करेगा उसका चित्त कैसे निर्मल रह सकता है?'-

जो रत लागै कापड़ा, जामा होय पलीत,

जो रत पीवै माणसा, तिन क्यों निर्मल चीत ।

-गुरु ग्रन्थसाहब/15-140

सत कबीर ने सात्विक खान-पान पर जोर देते हुये मास-भक्षण का तीव्र-विरोध किया है । उनके मासाहार-विरोधी उपदेश प्राय सभी धर्मो-सम्प्रदायो मे मान्य किये गये और आदर के साथ दूसरे धर्म-ग्रन्थो मे उन्हे सम्मिलित किया गया । सिख सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे भी उनकी ऐसी वाणी सकलित है । 'गुरु ग्रन्थ साहब' मे कबीर की चार पक्तियॉ एक जगह आती है-

-'मास के लिये बेकसूर जीवो की हत्या बडी निर्दयता है । तुम भले ही इसे हलाल कहकर अपने मन को भरमा लो, परन्तु है तो यह अपराध । एक दिन तुम्हे भगवान के सामने इसका जवाब देना होगा, तब सोचो तुम्हारी क्या दशा होगी'?-

कबीर किया सो जुलुम है, कहतॉ रहो हलाल,
दफ्तर लेखा मॉगिये, तब होयगो कौन हवाल ।

उन्होने कहा- 'स्वादिष्ट खिचडी, जिसमे अमृत जैसा नमक पडा है, सतोष से खाना चाहिये । अपना पेट भरने के लिये दूसरो का गला काटना उचित नही'-

खूब खाना खीचड़ी, माहिं पड़ा टुक लोन,
मास पराया खाइ कर, गला कटावै कौन ?

अपने मासाहार-विरोधी विचारो को शब्दो का कठोरतम जामा पहनाते हुये कबीर ने स्पष्टत मासाहारी को नरक का पात्र बताया-

-'जिसने जरा सा भी मास-भक्षण किया है, चाहे वह करोडो गोदान करे, चाहे अत समय मे काशी-करवट से ही अपने जीवन की समाप्ति करे, उसे नियम से नरक ही जाना पडेगा ।'

तिल भर मछरी खायकै, कोटि गऊ दे दान,
कासी करवट लै मरै, तो भी नरक निदान ।

कृत-कारित-अनुमोदना और समरम्भ-समारम्भ-आरम्भ से मास-भक्षण मे सहायक सभी लोगो को बधिक या हत्यारा कहा गया है । उन सबको पाप का भागीदार बताया गया है-

-'मास के लिये प्राणी-वध की अनुमति देने वाला, उसे मारने वाला, काट-काट कर पृथक करने वाला, मांस बेचने वाला, खरीदने

वाला, लाने या परोसने वाला और स्वय खाने वाला, जीव-वध मे ये सभी घातक हैं सभी समान रूप से हिसक हैं'-

अनुमंता, विशंसिता, निहंता, क्रय-विक्रयी

संस्कर्ता चोपहर्ता च, खादकश्चेति घातकाः ।

अहिसा मे विश्वास रखने वालो को और पाप से बचने की अभिलाषा रखने वालो को पशु-वध और मास-भक्षण से बचना चहिये । मास-मछली, अण्डा और मदिरा, तामसिक आहार हैं । इनके सेवन से आचरण मे तामसिक-वृत्तियो का ही प्रादुर्भाव होता रहता है ।

विश्व विख्यात मनीषियों के विचार

पाइथागोरस-

कुछ विद्वानो का विचार है कि पाइथागोरस पश्चिम मे शाकाहारी भोजन का उपदेश देने वालो का पितामह था । वह स्वय दयालु और कोमल-हृदय था । कहा जाता है कि एक बार उसने एक कुत्ते की चीखे सुनी । उसने मारने वाले से कहा, 'इसे मत मारो, इसकी चीखों मे मुझे एक दोस्त के रोने की आवाज सुनाई देती है ।'

पाइथागोरस एक ऐसा व्यक्ति था जिसने हमे अपनी थाली मे जानवरो का मास रखने तक की सख्त मनाही की है । उसने जोरदार शब्दो मे कहा है -

-'दोस्तो' अपने शरीर को पापपूर्ण भोजन के द्वारा नापाक या गन्दा मत करो । हमारे पास अनाज है, सेब, अगूर आदि फलो से लदे वृक्ष है । मिठास और सुगन्धि से परिपूर्ण कन्द-मूल तथा सब्जियाँ है, जो अग्नि पर पकाई जा सकती है । दूध तथा खुशबूदार शहद की भी कमी नही है । ऐसे पवित्र निर्दोष आहार से धरती भरपूर है और ऐसी दावतो का सामान प्रस्तुत करती है, जिसे प्राप्त करने के लिये किसी का रक्त बहाने या किसी की हत्या करने की जरूरत नही ।'

पाइथागोरस सुबह के खाने मे रोटी और शहद तथा शाम को कच्ची तथा पकाई हुई सब्जियाँ लेता था। इएम्बोलिनस पाइथागोरस की जीवनी मे लिखता है कि वह मछुओ को पैसे देकर पकडी हुई मछलियों को वापस समुद्र मे छुडवा देता था। वह जगली रीछो को सहलाता था। वह मक्का और अनाज पर गुजारा करता था और पशुओ के वध तथा शराब से नफरत करता था। पाइथागोरस के अनुसार निरामिष अथवा शाकाहारी भोजन मनुष्य मे शान्ति पैदा करता है तथा वासना पूर्ण निम्न वृत्तियो को भडकने से रोकता है।

एक अन्य ग्रीक दार्शनिक तथा कवि सैनेका का कथन है कि पाइथागोरस मास से परहेज करता था। वह पुनर्जन्म के सिद्धान्त को पाइथागोरस के भोजन-सम्बधी विचारो का आधार मानता था। सैनेका कहता है कि- 'मुझ पर भी इन विचारो का प्रभाव पडा और मैंने मास खाना त्याग दिया। एक साल के अन्दर यह आदत उतनी ही सुखद लगने लगी जितनी कि यह आसान भी थी। मुझे महसूस होने लगा कि मेरा मन पहले से अधिक सजग और चेतन हो गया है।'

प्लूटार्क-

प्लूटार्क कहता है- 'क्या तुम सचमुच यह पूछने का दुस्साहस कर सकते हो कि पाइथागोरस मास नही खाता था? मै तो इस बात पर हैरान हूँ कि वह मनुष्य-जिसने दुनिया मे पहली बार मास खाया, पता नही किस दुर्घटना का शिकार था। उसकी आत्मा किस दशा मे थी कि उसने जानवरो का मास अपने ओठो पर छुआया और दूसरो में इस अमानुषी वृत्ति को फैलाया।'

-'जो पशु मारे जाने से पहले प्रसन्नता पूर्वक विचरते, उछलते-कूदते फिरते थे, उसने उन पशुओ के निष्प्राण और गलित अगो को खुराक का नाम कैसे दे दिया? उसकी आंखें जानवरो को गलते कटते, उनकी खाल खिचते और उनकी बोटी-बोटी काटते देखना सहन कैसे कर सकी? उसकी नाक उस बदबू को कैसे बरदाश्त कर सकी? यह सब दुर्गन्ध और गदगी क्या उसके मुँह का स्वाद न बिगाड सकी ? मनुष्य कैसे पशुओ के घावो मे से वसा और खून चूस सका?'

-'हम ऐसे निर्दोष जीवो को कैसे मारते हैं, जिन्होने हमारा कुछ नही बिगाडा। जिनके न तीखे दात है, न विषैले डक। जिनको निश्चय ही प्रकृति ने सुन्दरता और शोभा के लिये बनाया है, परन्तु हमे शर्म नही आती। थोडे से मास की खातिर हम उनसे सूर्य का प्रकाश और जीवन तक छीन लेते हैं, जिसके कि वे अपने जन्म से ही अधिकारी हैं।'

लिनार्डो दा विंसी-

महान चित्रकार, कलाकार, विचारक और वैज्ञानिक लिनार्डो द विसी भी कट्टर शाकाहारी था। उसे आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का प्रथम शाकाहारी कहा जाता था। वह कहता था कि कोई ऐसी चीज मत खाओ जिसमे रक्त मिला हो और न ही किसी जीव की हिंसा करो। वह हर प्राणी के जीवन को पवित्र मानता था। उसने कहा- 'जो दूसरो की कद्र नही करता, वह खुद भी जिन्दा रहने का हकदार नही।'

-'प्रकृति नही चाहती कि एक जीव दूसरे का घात करें। भेडो, बकरियो, गायों आदि को खाने के अन्याय के प्रति वह बहुत घृणा प्रकट करता था। विसी कहता है, एक समय आयेगा जब मनुष्य पशुओ के वध को उसी प्रकार दुष्ट कर्म, हत्या समझेगा, जिस प्रकार कि आज मनुष्य की हत्या को समझा जाता है।'

वैगनर-

प्रसिद्ध सगीतकार वैगनर भी शाकाहार का दृढ समर्थक था। वैगनर मास, शराब और तम्बाकू तक के विरूद्ध था। पशु-वध के विरुद्ध चलने वाले ब्राह्मणो और बौद्धो की प्रशसा करते हुये वह कहता है कि- 'बौद्ध इतने दृढ शाकाहारी थे कि दुर्भिक्ष के दिनो मे पशुओ की मौत उनको पालने वालो की मौत के बाद ही होती थी। उसकी अपने शिष्यो को सख्त हिदायत थी कि कभी मासाहार न करे। उसके कई शिष्य और प्रशसक शाकाहारी थे।'

एलबर्ट स्वाइट्जटर-

प्रसिद्ध दार्शनिक, चिन्तक तथा 1952 में शान्ति के लिये नोबल प्राइज के विजेता एलबर्ट स्वाइट्जर पशु-हत्या तथा मांसाहार के सख्त

खिलाफ थे । कैद हुये जानवरो को, तथा सरकस आदि मे करतब दिखाते जानवरो को देखना तक उन्हे बरदाश्त नही था । वे फूल तोडने को भी अपराध मानते थे ।

टाल्स्टाय-

प्रसिद्ध विद्वान, लेखक तथा दार्शनिक लियो टाल्स्टाय अपने जीवन के अतिम बीस वर्षो मे पक्के शाकाहारी हो गये थे । उन्होंने कहा- 'जब मैंने परमात्मा मे विश्वास करना शुरू कर दिया तभी मेरा असली जीवन शुरू हुआ । जब मेरे अन्दर परमात्मा मे विश्वास नही था उस समय मै वास्तव मे मुर्दा था ।'

सन् 1982 मे टाल्स्टाय ने शिकार का पूर्ण त्याग कर दिया । यहॉ तक कि उसने अपने बीते हुये जीवन पर पश्चात्ताप किया, और शिकार के शौकीन अपने दो पुत्रो, सर्जे और इलया से अलग रहने लगा ।

टाल्स्टाय ने अपने एक लेख मे कहा- 'ससार भर मे इस्तेमाल की जा रही हशीश, अफीम, शराब और तम्बाखू का कारण यह नही है कि इनसे स्वाद, रस, मनोरजन या खुशी मिलती है । इनके इस्तेमाल का कारण यह है कि मनुष्य अपनी आत्मा या विवेक-बुद्धि की आवाज से डरता है और उससे बचने के लिये इन वस्तुओ का सहारा लेता है ।

जार्ज बर्नार्ड शॉ-

जब ए जे. फर्नीवाल ने ऑक्सफोर्ड के युनिवर्सिटी कॉलेज मे शैले समाज की स्थापना की तो प्रसिद्ध अग्रेज विद्वान, आलोचक तथा नाटककार जार्ज बर्नार्ड शॉ भी इसमे शामिल हो गये । इस सोसायटी की पहली सभा मे ही शॉ ने घोषणा की कि- 'मै भी शैले की तरह शाकाहारी भोजन मे दृढ विश्वास रखता हू ।'

एक बार बर्नार्ड शॉ सख्त बीमार हो गये । डॉक्टरो ने उनकी प्राण-रक्षा के लिये उनसे मास खाने का अनुरोध किया, परन्तु शॉ ने उत्तर दिया- 'मेरी हालत अजीब है । मेरे जीवन को उसी दशा मे बच सकने का भरोसा दिलाया जा रहा है जब मै गो-मास खाना स्वीकार करू परन्तु दूसरो के रक्त और मास के भक्षण से तो मै मौत बेहतर समझता हू । मैने अपनी अत्येष्टि के लिये वसीयत कर दी है । मै

चाहता हूँ कि मेरी शव यात्रा मे शोक प्रकट करने वाली गाडियो और मोटरो की जगह गायो, भेडो, बकरियो के समूह और मुर्गियो के टोले हों। उनके गले मे सफेद गुलूबन्द हो जो उस व्यक्ति के लिये सत्कार प्रदर्शन कर रहे हो जिसने अपने साथी प्राणियो को खाने के बदले मर जाना बेहतर समझा।'

मास खाने वाले लोगो की हालत देखकर जार्ज बर्नार्ड शॉ ने एक छोटी-सी दर्द भरी कविता लिखी है जिसमे उन्होनें लिखा-'हम मास खाने वाले लोग ऐसी चलती-फिरती कब्रें हैं, जिनमे वध किये हुये उन जानवरो की लाशे दफन की गई हैं, जिन्हे हमारे स्वाद के लिये मारा गया है। मुर्दो का मास नोच-नोच कर खाने वाले कौओ की तरह हम अपने आपको मास पर पालते हैं। हमे इस बात की चिन्ता या परवाह नही है कि इसमे जीवो की कितनी भयानक पीडा होती है'-

We are living graves of murdered beasts,
Slaughtered to satisfy our appetities.
Like carrion crows we live and feed on meat,
Regardless of the suffering and the pain.

-George Bernard Shaw

रेवरेण्ड चार्ल्स डब्ल्यू लेडवीटर-

सब धर्मो की यह शिक्षा है कि मनुष्य को हमेशा परमात्मा की इच्छा की ओर प्रवृत्त होना चाहिये, उसे बुराई के मुकाबले मे नेकी की ओर, अथवा पतन के मुकाबले मे विकास की ओर चलना चहिये। जो मनुष्य स्वय को विकास के पक्ष मे दृढ़ रखता है, वह जानता है कि- 'जीवो की हत्या करना कितनी बडी दुष्टता है। वह जानता है कि जानवरो मे जो जीवन है वह भी प्रभु की देन है, और ससार मे सभी प्रकार का जीवन ईश्वरीय है, इसलिये सभी पशु-पक्षी वास्तव मे हमारे बन्धु है। हमे अपने स्वाद की खातिर उनके प्राण लेने का कोई अधिकार नही है। हमे कोई अधिकार नही है उन्हे अपार यातना और कष्ट पहुँचाने का।'

अलबर्ट आईन्स्टाइन-

-'मै मास खाना किसी हालत मे भी आवश्यक नहीं समझता। किसी परिस्थिति मे भी मनुष्य के लिये मांस खाना उचित नही है। हम

पशुओ से ऊचे है । मांस खाकर निचली जीव-श्रेणी के समान कर्म करना हमारे लिये उचित नही है ।'

सुभाषचन्द्र बोस-

-'हमारे ऋषि-मुनि कहते चले आये है कि अहिसा के लिये मासाहार का त्याग आवश्यक है । सिर्फ ऋषि-मुनि ही क्यो, परमात्मा ने स्वय कहा है । क्या किसी को उस परमात्मा के प्राणियो का वध करने का अधिकार है? क्या यह बहुत बडा अपराध नही? मै उन लोगो से सहमत नही जो कहते हैं कि मास न खाने से शारीरिक बल घटता है । हमारे ऋषि-मुनि इतने अज्ञानी नही थे कि वे मनुष्य के लिये लाभदायक होने पर भी उसे मास-मछली खाने की मनाही करते ।'

डाक्टर एनी बेसेन्ट-

प्रसिद्ध थिओसाफिस्ट श्रीमती एनी बेसेन्ट भी कट्टर शाकाहारी थी । वे अपनी पूरी आयु इस मार्ग पर दृढ रहीं । थिओसॉफी मानवीय बन्धुत्व का उपदेश देती है और किसी भी पशु, पक्षी अथवा जीव को मारने की मनाही करती है । ऐनी बेसेन्ट का कथन है कि-

-'बगैर किसी पशु को मारे मास प्राप्त नही हो सकता । पशु को या तो हम कत्ल करते हैं या किसी दूसरे से उसका वध करवाते है । हम अपने आपको बहुत कोमल-हृदय समझते हुए, स्वय पशु वध करने से झिझकते हैं और किसी दूसरे पर जिम्मेदारी डाल देते हैं । इस प्रकार वध करने वाले व्यक्ति के नैतिक पतन के लिए भी हम खुद जिम्मेदार है ।'

अण्डा : जहरीला और अखाद्य

अभी पिछले दशक तक शाकाहारी समुदाय मे अण्डा पूरी तरह निषिद्ध माना जाता था । अण्डा स्वास्थ्य के लिये अहितकर और विशेषकर बालको के लिये अत्यत हानिकर बताया गया है, पर इधर कुछ वर्षो मे उसका प्रचार बढ रहा है । चिन्ता की बात यह है कि व्यापारिक स्वार्थवश अण्डे को 'शाकाहार' और 'फलाहार' विज्ञापित करके व्यापक भ्रान्ति फैलाई जा रही है ।

अण्डा शाकाहार नहीं है-

आज व्यापारिक-स्वार्थ वश जोर-शोर से यह प्रचार किया जा रहा है कि जो अण्डा फलीकरण के बिना प्राप्त होता है, मुर्गे के सयोग के बिना ही पैदा हुआ है, उसमें जीवन होना कतई सम्भव नही है। इसीलिए इसमे जीव की हिसा नहीं होती। अत इसे 'अहिसक' भी बताया जा रहा है और 'शाकाहारी' भी।

यदि प्राणी-विज्ञान और विशेषत भ्रूण-विज्ञान के विशेषज्ञो की राय ली जाय तो नि सदेह प्रमाणित होगा कि अण्डा फलीकरण से पैदा हुआ हो अथवा उसके वगैर, उसमे जीव तो अनिवार्य रूप से है। जीव के सारे लक्षण जैसे बढना, सास लेना, खुराक लेना आदि भी उसमे दिखायी देते हैं, और चूकि वह मुर्गी के शरीर मे पैदा होता है, अत मासाहार है।

कई वैज्ञानिको ने यह सिद्ध कर दिया है कि ससार का कोई अण्डा निर्जीव नही है, फिर चाहे वह निषेचित हो या अनिषेचित।

वस्तुत अण्डे की उत्पत्ति बच्चे के सृजन के निमित्त होती है, मनुष्य की खुराक के लिए नही। अण्डे मे हवा आने-जाने की नैसर्गिक व्यवस्था है। सफेद खोल के अन्दर बने सूक्ष्म छिद्रो से होकर ऑक्सीजन अन्दर जाती है और जरदी की भाप कार्बनडॉयाक्साइड को बाहर फेकती है। इससे अण्डे का भ्रूण जीवित रह कर विकास करता है। यही बात अनफर्टेलाइज्ड अण्डो पर भी लागू होती है। श्वासोच्छ्वास जीवन की निशानी है और जब भी यह अवरूद्ध होता है, अण्डा सड जाता है। वैज्ञानिक तमाम अण्डो मे जीव मानते हैं। हर प्रकार से अण्डा गर्भ-रस है, अत उसे शाकाहार के अतर्गत गिनाना बहुत बडा धोखा है। यह अपने स्वार्थ के लिए फैलायी जाने वाली भयानक-भ्रान्ति है।

अण्डा हानिकारक भी है-

अण्डो में कोलेस्टोरोल की मात्रा इतनी अधिक होती है जिसके कारण दिल की बीमारी, उच्च-रक्तचाप, गुर्दों की बीमारी, पित्त की थैली में पथरी आदि रोग पैदा होते हैं। एक अण्डे में लगभग 4 ग्रेन कोलेस्टोरोल होता है। जब अण्डे खाये जाते हैं, तब खून में कोलेस्टोरोल की मात्रा बढ जाती है, जिसके कारण पित्ताशय की पथरी और दूसरी बीमारियां पैदा हो जाती हैं।

अण्डे मे कैलशियम की कमी और कार्बोहाइड्रेट का अभाव होता है । इसी कारण ये बडी ऑत मे जाकर सडन पैदा करता है ।

त्वचा के अधिकाश रोगो का कारण, अण्डो का उत्पादन बढाने के लिये मुर्गियो को दिया जाने वाला रासायनिक आहार है । पॉच वर्ष से कम आयु के बच्चे को अण्डा देना जहर के समान है । इससे बच्चो की रोग प्रतिरोधी शक्ति कम हो जाती है और उन्हें लकवा मार जाने की सम्भावना बढ जाती है ।

अण्डे मे प्रोटीन की मात्रा अधिक होने का प्रचार केवल भ्रान्ति है । अण्डे मे प्रोटीन की मात्रा सोयाबीन, मूगफली, दूध आदि से प्राप्त प्रोटीन की तुलना मे बहुत कम है और वह निम्न स्तर का है ।

सत्यानाशी-व्यसन : मदिरा

मदिरा मे असख्य त्रस-जीवो की साक्षात् हिसा होती है । पदार्थो को सडाये बिना मदिरा का निर्माण प्राय नही होता । इसका निषेध करने का एक कारण और है कि इसके साथ अन्य अनेक मानसिक विकार और दुर्गुण भी मनुष्य मे आ जाते है । अहकार, भीति, घृणा, सनक, शोक, कामवासना और क्रोध आदि सारे विकार हिसा की ही पर्याय है । वे सब मदिरा के पडोसी है । सदा उसके साथ ही रहते है-

अभिमान-भय-जुगुप्सा, हास्य-अरति-शोक-काम-कोपाद्या,
हिंसाया पर्याया. सर्वेऽपि च, सरक-सन्निहिताः ।

-अमृतचन्द्रस्वामी/पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय/44

मधु के उत्पादन मे मधु-मक्खियो की हिंसा होती है और मधु उन मक्खियो का उच्छिष्ट मल है, इसलिये मधु को भी अभक्ष्य माना गया है ।

सूर्यास्त के बाद अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव वातावरण मे सचरण करने लगते है । प्राकृतिक प्रकाश के अभाव मे भोजन को पूरी तरह शोधना सभव नहीं होता । देर रात्रि मे भोजन करने से शरीर को पूरा आराम भी नही मिल पाता । जीवन मात्र खाने-पीने के लिये नहीं है । जीने के लिये खाना है इसलिए भी भोजन-पान की व्यवस्था सयमित और सीमित होनी चाहिए । यह नियन्त्रण स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हितकर है । इन्ही सब कारणो से रात्रि भोजन का निषेध किया गया है ।

इस प्रकार पंच-अणुव्रत की पालना के साथ मद्य-मास-मधु के त्याग को 'अष्ट-मूलगुण' कहा गया है। संतो का यह परामर्श है कि मानव-जीवन का सही लाभ लेने के लिये ये आठ मूलगुण हम सबके आचरण मे होने ही चाहिये। ये मानवता के लक्षण है। इनके बिना अहिसा-अणुव्रत का निर्वाह सभव नहीं है।

पाप का प्रवेश

हमारे जीवन मे एक सौ आठ द्वारों से पाप का प्रवेश होता है। हिसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिग्रह, इन पाचो पाप-क्रियाओ मे यह गणित बिठा लेना चाहिये-

क्रोध, मान, माया और लोभ — **ये चार कषाय भाव है।**
मन, वाणी और शरीर — **ये तीन साधन हैं।**
समरम्भ, समारम्भ और आरम्भ — **ये तीन उपाय हैं और**
कृत, कारित और अनुमोदना — **ये तीन प्रकार हैं।**

पापास्रव के यही ($4 \times 3 \times 3 \times 3 = 108$) एक सौ आठ भेद हैं।

प्रभु-नाम की माला में एक सौ आठ मनके होते हैं ताकि माला फेरते समय हम चिन्तन करे कि- 'एक सौ आठ प्रकार से आज मुझसे जो भी पाप हुआ हो, मैं उसका प्रायश्चित करता हूँ और सकल्प करता हूँ कि पापास्रव के ये एक सौ आठ द्वार मुझे अपने जीवन मे रुद्ध करने हैं।'

क्या अनिवार्य हैं ये सारे द्वार-

यह प्रश्न उठता है कि कोई पाप-भावना जब मन मे उदित होती है तब क्या यह अनिवार्य है कि उसके लिये ये सब द्वार खुल जाये ? क्या उस विष-बेल को इतना फैलने से रोका नही जा सकता, क्या है उसका उपाय?

यह फैलाव बिलकुल अनिवार्य नहीं है। यह तो हमारी पाप-प्रियता के कारण, या असावधानी के कारण होता है। साधक तो सस्कारो मे से उपजती पाप-भावनाओ को, उनके अहितकर स्वभाव का चिन्तन करके, वहीं मन में ही उनका शमन कर देता है। या फिर प्रभु-नाम का सहारा लेकर मन को अन्यत्र एकाग्र करना चाहता है। सतों का मन इतना निर्मल हो जाता है कि उसमें प्राय. पाप-भावनाओं का उदय होता ही नही।

जब कर्म के उदय से, या सस्कार-वश, मन मे विकार उत्पन्न हो, तब यदि हम होशो-हवाश मे हो, हमारा विवेक जाग्रत हो, तो उस पाप-वृत्ति पर अकुश लगाया जा सकता है। विकारी मन के पीछे सक्रिय होने वाले वचन और देह को तो रोका ही जा सकता है। यद्यपि पाप का विमोचन मन की पवित्रता के बिना नही होता। वाणी की बनावटी पवित्रता और देह के वेष का तब तक विशेष महत्व नही है जब तक मन निष्पाप न हो। किसी कवि ने कहा है- "भाई, वेष बदलने से क्या होगा? पाप तो मन से गया नही। साप केचुली छोड दे तो इतने से उसके शरीर का विष तो नही छूटता?-

वेष तज्या तो क्या तज्या, राग तज्या नहिं वीर,
साँप तजै ज्यों, केंचुली, विष नहिं तजत शरीर।

लेकिन नही एक दृष्टिकोण और भी है। मन के विकारी होने पर यदि वचन और काय उसका साथ न दे तो विकार का अधिक फैलाव नही होगा। उससे मन को भी सीख मिलेगी, वह रास्ते पर आ जायेगा। किसी ने कहा- 'मन यदि वर्जित दिशाओ मे जाता है तो जाने दे। भाई शरीर, तू तो उसके पीछे मत दौड। यदि तू साथ नही देगा तो मन कर क्या लेगा? वाण कितना ही विषहरा क्यो न हो, धनुष पर कमान ही न चढाई गई हो तो बाण क्या करेगा?'

मन जाता तो जान दै, तू मत जाय शरीर,
उतरी धरी कमान तो, कहा करैगो तीर।

मार्ग यही है कि जैसे बने तैसे पाप-भावना के फैलाव को रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। उसे साकार होने से रोकना चाहिये। उसके विस्तार से होने वाले निज और पर के विनाश को बरकाने की कोशिश करना चाहिये। मन भागता हो तो उसे दण्डित करना चाहिये। तन बेकाबू होता हो तो उसे पाठ पढाना चाहिये। पाप से बचने का उपाय तो यही है।

यहा मुझे सन्यास की 'त्रि-दण्ड व्यवस्था' का स्मरण आता है। मन-वचन-काय को अनुशासित करने के लिए इस व्यवस्था का उपदेश सतों ने किया था। उन्होने कहा था-

मन का दण्ड है- प्राणायाम। उसका नियमित अभ्यास करना।
वचन का दण्ड है- मौन। निरतर उसे धारण करना।

देह का दण्ड है- निष्काम-कर्म। उसकी साधना करना।

आज इस व्यवस्था का प्रतीक 'दण्ड' तो बहुत हाथो में देखता हूँ, परन्तु उसका वास्तविक अभिप्राय सधता हो यह कभी-कभार ही देखने को मिलता है। सार्थक 'त्रिदण्डी स्वामी' बिरले ही होते है।

ऐसे भी मानता है मन-

कुछ मित्र नर्मदा किनारे पिकनिक मना रहे थे। सामने पेड के नीचे एक बटोही कण्डों की आँच पर बाटियाँ सेक रहा था। कुल तीन टिक्कड उसने बनाये। सूखे टिक्काटियॉं उसने तोड-तोड कर नर्मदा को अर्पित कर दीं। दो मुट्ठी राख पानी मे घोली और पी गया। अपनी झोरी उठाई और आगे बढ चला।

हमारी मण्डली मे से किसी ने उसे रोक लिया। 'बाबा आपने यह क्या किया? बाटियाँ बनाई थी तो खाई क्यो नही? खाना नही थीं तो बनाई क्यो? बात अटपटी लगती है। समझाकर जाइये।'

यात्री ने अपनी मनोवेदना शब्दो मे बाँध दी- 'भैया, नर्मदा माई की परिक्रमा पर निकला हूँ। भिक्षाटन से पेट भरने का सकल्प है। पर्याप्त मिल जाता है। यात्रा भी समाप्ति पर ही है। मगर यह मन तीन दिनो से रोटी की रट लगाये था। चना-चबैना से इसे तृप्ति नही, रोटी चाहिये। उसी का स्मरण, उसी का कीर्तन। कल तो माई के दर्शन मे भी मुदित नही हुआ। कीर्तन मे भी भटकता ही रहा। रोटी चाहिये थी इसे। आज पहली बार मुँह खोलकर कही आटा मॉगा, कही नमक की याचना की। कण्डे बटोरे। पत्थर पर गूँध कर बाटियाँ सेकी। फिर खाने से पहले पानी लेने गया।

दोपहर की धूप मे नर्मदा माई की चमकती लहरो ने ऑखो को भरमा लिया। बडी ठडक मिल रही थी। 'मगर यह मरभुखा मन, बाटियो मे रखा था। कही कौवा न ले जाये। कोई कुत्ता न आ जाये। एक बार तो इस पापी ने यह भी शका कर ली कि कही आप लोग ही न उठा ले इसका छप्पन-भोग।'

-'परिक्रमा मे जो माई का दर्शन भी न करने दे वह मीत नहीं, वह तो मेरा बैरी हुआ। सोच लिया फिर, आज इस बैरी को मजा चखाना

ही चाहिये । बाटियाँ खिला दी मछलियो को और इसे पिला दी उन्ही कण्डो की राख । अब कल्ह एकादसी है, निर्जला रहूँगा । ऐसे ही मानेगा यह निर्लज्ज । यही है इसका इलाज ।'

तो फिर यह जरूरी नही कि पापास्रव के सभी एक सौ आठ दरवाजे हर बार खुले । हम सावधान हो तो उनमें से अधिकाश को तो सरलता से बद कर सकते हैं । पाप का भार उतना हल्का तो हो ही जायेगा । उनसे मुक्ति पाने का अभ्यास इसी प्रकार तो होगा । मन के हर इशारे पर नाचना जरूरी तो नही । जो विकार विचार मे आ गया वह क्रिया मे आना ही चाहिये ऐसा क्यो? पाप तो जहर की लहर है । जब, जहा, जिस प्रकार उसे रोका जा सके वही रोकने का प्रयत्न करना चाहिये । जितना रोका जा सके उतना तो रोकना ही चाहिये ।

सोचने से नही बच पाये तो करने से बचिये ।
कर ही डाला है तो आगे नहीं करने का सकल्प लीजिये ।
स्वय नहीं तो दूसरों से मत कराइये । वे भी दण्डित होंगे ।
पाप की अनुशसा करके उसे प्रोत्साहित मत कीजिये ।
दूसरो के द्वारा किये हुए पाप की अनुमोदना से तो बचिये ।
जीवन को निष्पाप बनाने का यही उपाय है ।
एक दिन मे यह सब नही होगा,
अनादि के संस्कार हैं, धीरे-धीरे जायेगे ।
इसी का नाम साधना है ।

पंच अणुव्रत

हिसा-झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह, ये मानव जीवन को पतन की ओर ले जाने वाले है। इन पापो से मुक्त होने का एक क्रम है। पहले नियम लेकर उनका आशिक त्याग करना होगा। यह नियम 'अणुव्रत' कहलाते है। बाद मे साधना की ऊँचाईयो को छूने के लिये इन्ही पापो का सर्वथा त्याग होता है जिसे 'महाव्रत' कहते हैं। महाव्रतो का पालन केवल बैराबी सतो-मुनियो के लिये ही सम्भव है। गृहस्थ सिर्फ अणुव्रतो की पान लना कर सकते है। यहाँ हम उन्ही अणुव्रतो की व्याख्या करेगे।

अशरण भावना

अहिसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पॉच व्रतो मे अहिसा ही प्रमुख है। वही साध्य है, शेष चारो उसके साधन हैं। फसल की रक्षा के लिये जैसे खेत के चारो ओर बाड लगा देते हैं उसी प्रकार सत्य-अचौर्य आदि सभी व्रत अहिसा की रक्षा के लिये ही हैं।

राग-द्वेष की पूर्ति के लिये सकल्प करके किसी प्राणी को पीडा पहुँचाने, या उसका प्राण-घात करने को हिसा कहा गया है। इस हिसा का स्थूल-त्याग 'अहिसा-अणुव्रत' है।

अपने कर्तव्यो और दायित्वो का निर्वाह करने के लिये, या मौलिक अधिकारो का उपभोग करने के लिये जो आरम्भी, और उद्योगी-हिसा करनी पडती है उसमे हिसा करना व्यक्ति का उद्देश्य नहीं होता। वहॉ व्यक्ति का उद्देश्य अपनी आजीविका चलाने का है। अपने जीवन-निर्वाह और परिवार-पालन का है। वह हिसा करता नही उसे करनी पड़ती है।

इसे यो भी कह सकते है कि आरम्भ और उद्योग कार्यों मे हिंसा व्यक्ति की मजबूरी है, वह उसका लक्ष्य नही है। मजबूरी मे कुछ हिंसा उससे हो जाती है। इन दोनो प्रकार की हिंसा की छूट दिये बिना गृहस्थ का जीवन चल नही सकता।

विरोधी-हिसा की छूट पाये बिना भी गृहस्थ सम्मान-पूर्वक अपना जीवन-निर्वाह नही कर सकता। वह अपने आश्रित जनो के प्रति, अपने समाज और देश के प्रति तथा धर्म और धार्मिक स्थानो एव साधु-संतो के प्रति अपना कर्तव्य-पालन नही कर सकता। इसके बिना शासन आदि न्याय की व्यवस्था भी नही बन सकती। यहॉ इतना अवश्य ध्यान रखना होगा कि विरोधी-हिंसा का प्रसग आने पर आत्मरक्षा और नीति ही उसका अभिप्राय होना चाहिये। हिसा उसका प्रमुख लक्ष्य नही होगा।

अहिसा-अणुव्रत मे संकल्पी हिसा का सम्पूर्ण त्याग कराकर यत्नाचार पूर्वक एक सम्पूर्ण और सात्विक-जीवन जीने का परामर्श दिया गया है।

अतिचार और भावनाएं-

प्रत्येक व्रत के निर्वाह के लिये सावधानी की आवश्यकता होती है। कुछ ऐसे कार्य होते हैं जो सामान्यत पाप नही दिखाई देते परन्तु यदि वे कार्य निरन्तर होते रहे तो व्रत मे दूषण भी लगता है और व्रत खण्डित होने की आशका भी बनी रहती है। ऐसे कार्य अतिचार कहे गये हैं।

सतो ने कुछ ऐसी भावनाए भी बताई हैं जिन्हे ध्यान मे रखने पर त्याग का सकल्प दृढ होता जाता है, अत साधक को अतिचारो से बचने और व्रत की समर्थक-भावनाओ का चिन्तन करने का परामर्श दिया गया है।

अच्छी फसल पाने के लिये सिर्फ बीज बो देना पर्याप्त नही है। उसके साथ उगने वाले घास और खर-पतवार की निराई-गुडाई करनी पडती है, और फसल को सींचना पडता है, तब वास्तविक लाभ होता है। इसी प्रकार साधना के लिये व्रत धारण कर लेना भर पर्याप्त नही है। व्रत में लगने वाले दोषो से बचने के लिये उस व्रत के अतिचारो मे बचना बहुत आवश्यक है। त्याग को पुष्ट करने वाली भावनाये भी व्रत की स्थिरता मे सहायक होती हैं, अत प्रत्येक व्रत को भावना-पूर्वक अतिचार-रहित सावधानी से पालन करना चाहिए।

अहिसा अणु-व्रत के पॉच अतिचार यानी सामान्य से दोष हैं। छेदन, बन्धन, पीडन, अतिभारारोपण और आहार-वारणा। इन अतिचारो की परिभाषा इस प्रकार की जाती है -

१ दुर्भावना से कान-नाक आदि अगो का छेद तथा नकेल और कटीली-लगाम आदि कष्ट पहुँचाने वाले प्रयोग **छेदन** है ।

२ दुर्भावनावश किसी की प्रवृत्तियो पर बधन लगाना तथा रस्सी-जजीर आदि के द्वारा बॉधकर रखना '**बंधन**' है ।

३ डडा, बेत-चाबुक आदि से घात करके शरीर को पीडा पहुँचाना तथा ठोर शब्दो से किसी को पीडित करना '**पीडन**' है ।

४ दुर्भाव या लोभवश किसी पर उसकी शक्ति से अधिक भार डालना '**अति भारारोपण**' है । यह अतिचार बोझा ढोने तक सीमित नही है । किसी पर न्याय और नियम-विरुद्ध अनुचित कर-भार, दण्ड-भार तथा कार्य-भार भी **अति भारारोपण** ही है ।

५ दुर्भावना वश अपने आश्रितो के अन्न-पान का निरोध करना । उन्हे जान बूझ कर भूखा-प्यासा रखना । समय पर उनके भोजनादि की यथोचित व्यवस्था नही करना '**आहार-वारणा**' है ।

यहाँ दुर्भावना पूर्वक अन्न-पान के निरोध को अतिचार बताया गया है । भय दिखाने के लिये किसी आश्रित को भले ही कुछ कह लिया जाये, परन्तु समय पर उसे भोजन अवश्य देना चाहिये । रोग-शमन के लिये भूखा रखना, लंघन आदि कराना, तथा शान्ति के लिये उपवास आदि करना अतिचार की परिभाषा मे नही आते ।

व्रत की पोषक भावनाएं - अहिंसा-अणुव्रत के पोषण के लिये तीन गुप्ति और पॉच समिति रूप भावनाएँ बताई गई हैं-

मन को नियत्रित करना, उसे विषय-वासनाओं की ओर नही जाने देना '**मनगुप्ति**' है । वचन के द्वारा अनर्गल या निरर्थक प्रलाप नही करना, विसंवाद उपजाने वाली या क्षोभ उत्पन्न करने वाली चर्चा से बचना '**वचनगुप्ति**' है । शरीर को स्थिर रखना **कायगुप्ति** है ।

जब निष्क्रिय जागरुकता रूप गुप्ति साधना सम्भव न हो तब जीवन निर्वाह की आवश्यक क्रियाओ को सावधानी पूर्वक करने का नाम **समिति** है । किसी जीव को पीडा न पहुँचे ऐसा विचार कर दया भाव से भली भाँति देख भाल कर क्रियायें सम्पन्न करना समिति कहलाती है । ये समितियाँ पाँच प्रकार की कही गई है -

१ उठते-बैठते तथा चलते फिरते समय जीव-हिंसा से बचते हुये यत्नाचार-पूर्वक प्रवृत्ति करना पहली **'ईर्या-समिति'** है ।

२. हित-मित और प्रिय, सद्भावना से भरी और कल्याणकारी वाणी का ही प्रयोग करना **'भाषा समिति'** है ।

३ निर्दोष स्थान पर, निर्दोष विधि से, उचित काल मे, अपने व्रत की रक्षा करते हुए, भली प्रकार शोध कर, दोष रहित, विहित भोजन-पान ग्रहण करना **'एषणा समिति'** है ।

४. ज्ञान के अभ्यास मे व सयम की साधना मे सहायक होने से पुस्तक, पीछी-कमण्डलु आदि जो उपकरण साधक को रखना पडते हैं उन्हे देख-भाल कर रखना-उठाना **'आदान-निक्षेपण समिति'** है ।

५ जहाँ जीवो की विराधना न हो ऐसे निर्जन्तुक स्थान मे मल-मूत्र-कफ-थूक आदि का सावधानी से विसर्जन करना **'प्रतिष्ठापन समिति'** या **'उत्सर्ग समिति'** है । अहिसा सभी समितियो का साध्य है ।

सत्य अणुव्रत

सत्य और अहिसा का ऐसा घनिष्ट सम्बध है कि एक के अभाव मे दूसरे की आराधना सम्भव ही नही है । ये दोनो परस्पर एक दूसरे के पूरक है । अहिंसा यथार्थ को सौदर्य प्रदान करती है । और यथार्थ अहिसा को सुरक्षा देता है । अहिसा-रहित सत्य कुरूप है और सत्य-रहित अहिसा क्षणस्थायी है, असुरक्षित है । इसलिये अहिंसा के आराधक को सत्य की उपासना अनिवार्य है । गृहस्थ-जीवन मे असत्य का सम्पूर्ण त्याग नहीं किया जा सकता अत स्थूल-झूठ का त्याग ही सत्य-अणुव्रत का अभिप्राय है । सत्य के तीन अन्वय कहे गये है, हित, मित, और प्रिय ।

सत्य-अणुव्रत मे जिस झूठ का त्याग कराया गया है, अथवा जिस सत्य के प्रयोग की अनुशसा की गई है, वह लोक-हित और अहिसा का साधक है । इसलिये इस व्रत की परिभाषा मे हितकर होना सत्य की पहली शर्त है । उसका मित होना, सक्षिप्त होना इसलिये आवश्यक है कि इससे यह तत्काल ग्राह्य होता है । वह प्रिय भी हो ऐसा इसलिये जरूरी है कि इसके बिना उसे दूसरो तक पहुँचाना सम्भव नही है । अत यह अनिवार्य है कि सत्य को हित, मित और प्रिय होना चाहिये ।

द्रव्य-हिसा और भाव-हिसा की तरह असत्य और सत्य के भी भेद किये जा सकते हैं वाणी को अभिप्राय से तौलकर ही उसे सच या झूठ के वर्ग में रखा जा सकता है ।

एक सत किसी वृक्ष के नीचे ध्यान कर रहे थे । जब वे वहा से उठने को हुए तभी एक हिरण चौकडी भरता सामने से निकल गया । पीछे ही दौडता हुआ शिकारी आ पहुँचा । उसने विपरीत दिशा की ओर हाथ उठाकर पूछा- 'महात्मा जी, क्या हिरण इसी ओर गया है?'

यद्यपि हिरण उस दिशा मे नहीं गया था और जिस ओर गया था वह सत जानते थे, परन्तु यहाँ एक प्राणी के जीवन-मरण का प्रश्न था । यदि वे वास्तविकता बताते हैं तो हिरण के मारे जाने की आशका है । यदि वे शिकारी के अनुमान का समर्थन करते हैं तो शिकारी उसी दिशा मे दौडेगा और मृग के प्राण बचने की सम्भावना बढ जायेगी । इस परिस्थिति मे समय का सत्य और हित-प्रेरित सत्य यही था कि यहाँ यथार्थ को उजागर न किया जाये और शिकारी के विपरीत अनुमान को सही बताया जाये । सत ने वही किया और शिकारी उस दिशा की ओर चला गया । सत्य-अणुव्रत का यही प्रयोजन है ।

सत्य-अणुव्रत के पॉच **अतिचार है - परिवाद, रहोभ्याख्या, पैशून्य, कूटलेख क्रिया और न्यासापहार ।**

वचनो के माध्यम से किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र मे सक्लेश अथवा अशान्ति के बीज बोना '**परिवाद**' है ।

किसी के गोपनीय रहस्य को उजागर करना । देश की रक्षा व्यवस्था, समृद्धि और सामर्थ्य की महत्वपूर्ण सूचनाएं, प्रलोभन वश या दुर्भावना वश किसी को पहुँचा देना । यह सब '**रहोभ्याख्या**' है ।

दो पक्षो को परस्पर मे लडवाने के लिये उनकी बातें बढा-चढा कर दूसरे पक्ष तक पहुँचाना या एक की दूसरे से चुगली करना । किसी के पीठ पीछे उसकी बुराई करना '**पैशून्य**' है ।

नकली दस्तावेज तैयार करके किसी को धोखा देने या ठगने का प्रयास करना । किसी के जाली हस्ताक्षर बनाना । किसी की लिखावट में दुर्भावना पूर्वक मिलावट या काट-छाँट करना । प्राचीन ग्रन्थो से ऐसे

पद-वाक्य निकाल देना या जोड देना जिससे उनका वास्तविक अभिप्राय दूषित होता हो। समाज मे भ्रान्ति या अशान्ति फैलाने वाली कल्पित घटनाओ या मन-गढन्त समाचारो का प्रचार-प्रसार करना। प्रतिहिसा की भावना भडकाने वाली अफवाहे फैलाना, झूठी गवाही देना, अपनी बात से मुकर जाना आदि सभी '**कूटलेख-क्रिया**' है।

किसी की धरोहर हडप लेना, अमानत मे खयानत करना। श्रमिको को नियमानुकूल भुगतान नही करना, भागीदारी मे खोटी नियत करना, या ट्रस्टीशिप के नियमो का उल्लघन करना '**न्यासापहार**' है।

सत्य-अणुव्रत के निर्दोष पालन के लिये तथा व्रत मे उत्तरोत्तर निर्मलता लाने के लिये इन पॉच अतिचारो से बचना चाहिये। सत्य अकारण भी बोला जा सकता है परन्तु असत्य सदैव अभिप्राय प्रेरित ही होता है। असत्य का प्रयोग क्रोध-लोभ-भय और हास्य के वशीभूत ही किया जाता है, इसलिये क्रोध और लोभ को नियत्रित करना, भय का त्याग कर आत्म विश्वास पूर्वक, निर्भीक जीवन बिताना और भोंडे-अश्लील हास्य से बचना, यही सत्य-अणुव्रत की पाँच भावनाये हैं।

अचौर्य अणुव्रत

चोरी भी हिसा का ही एक रूप है। जब किसी की कोई वस्तु चोरी चली जाती है, या कोई कही ठगाया जाता है, तब उसके परिणाम सक्लेशित होते है। उसे मानसिक पीडा होती है और भौतिक कष्ट भी उठाने पडते है। अत जब तक चोरी का त्याग न हो तब तक अहिसा का पालन नही हो सकता। चोरी छोडे बिना सत्य के निर्वाह की भी कोई सम्भावना नही है।

जिस पर अपना अधिकार नहीं है ऐसी किसी भी वस्तु को बिना अनुमति प्राप्त करना, या प्राप्त करने की चेष्टा करना, चोरी है। दूसरे को ठगना और छल-कपट के द्वारा दूसरे का द्रव्य अपनी जेब मे डालने के सारे अनैतिक काम चोरी ही है। चोरी का स्थूल-त्याग तीसरा '**अचौर्य-अणुव्रत**' है।

अचौर्य-अणुव्रत के पांच अतिचार है - चौर-प्रयोग, चौरार्थ-आदान, विलोप, प्रतिरूपक-व्यवहार और हीनाधिक-विनिमान।

१. तरह-तरह के उपाय बताकर चोरी की प्रवृत्ति मे सहायक होना। स्वय चोरी की योजना बनाना और दूसरो के द्वारा चोरी का प्रयास करना। चोरी की प्रशंसा-अनुमोदना करना **'चौर-प्रयोग'** हैं।

२. जानबूझकर चोरी का माल खरीदना, गिरवी रखना या छिपाना। उस माल का व्यापार करना। चोरो-डाकुओ के साथ आर्थिक सम्बध रखना, लूट-पाट मे सहायक होना **'चौरार्थ-आदान'** है।

३. किसी की स्थावर या जगम चेतन या अचेतन सम्पत्ति छीन लेना या नष्ट कर देना। भूमि या भवन पर अवैध कब्जा करना। सार्वजनिक/शासकीय भूमि, वन-उपवन-तालाब आदि पर अतिक्रमण करके अधिकार जमा लेना। कही आग लगाकर, कही बम फोडकर और कही तेजाब छिडक कर दूसरे को हानि पहुँचाना। घूस लेना या घूसखोरी को बढावा देना। ये सारी क्रियाए **'विलोप'** हैं।

४. दूसरो को ठगने या अनुचित लाभ कमाने के अभिप्राय से मूल्यवान वस्तुओं मे सस्ते पदार्थो की मिलावट करना। नकली वस्तुओं को असली बताना। नकली दवाओ या जिनकी अवधि समाप्त हो चुकी है ऐसी दवाओं का व्यापार करना। अशुद्ध को शुद्ध तथा अपवित्र को पवित्र बताकर बेचना आदि क्रियाये **'प्रतिरूपक-व्यवहार'** हैं।

५. गैलन-लिटर आदि माप हैं और किलो-तोला-ग्राम आदि तौल है। माप तौल के साधन बाट आदि कमती-बढ़ती रखकर व्यापार में अधिक लेने और कम देने की नीयत रखना। यात्रा मे निषिद्ध सामान लेकर चलना अथवा बिना टिकिट या अपर्याप्त टिकिट पर यात्रा करना। किसी प्रकार की कर-चोरी और हिसाब की हेरा-फेरी आदि सब **'हीनाधिक-विनिमान'** नाम का पाँचवाँ अतिचार है।

इस व्रत में दृढता के लिये न्याय-नीति की कमाई से अपनी आय के भीतर आजीविका चलाने का संकल्प आवश्यक है। जहाँ आय से अधिक व्यय होगा वहाँ निश्चित ही गलत रास्तों का धन घर में आयेगा। ऐसे अपवित्र धन से परिवार मे व्यसन, कलह और अशान्ति उत्पन्न होगी। जीवन आकुलता और तनावों से ग्रस्त हो जायेगा। इसलिये गृहस्थ को न्याय-नीति की अनीति की कमाई नहीं खाना चाहिये।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत

वासना का शमन करने का वास्तविक उपाय तो ब्रह्मचर्य ही है। भोगो के माध्यम से वासना की क्षणिक-तृप्ति हो जाती है परन्तु उसका अभाव नही होता। वह दूने वेग से पुन पुन उभरती है।

प्रारम्भिक दशा मे साधक में इतनी सामर्थ्य नही होती कि वह ब्रह्मचर्य-महाव्रत का पालन कर सके, अत उसके लिये **'स्वदार-संतोष व्रत'** बताया गया है। दम्पति एक दूसरे मे सन्तुष्ट और प्रसन्न रहें, दाम्पत्य की मर्यादा के बाहर आकर्षण का अनुभव न करे, गृहस्थो के लिये यही **'ब्रह्मचर्य-अणुव्रत'** है।

स्वदार-सतोष व्रत गृहस्थो का धर्म है। यह गार्हस्थिक सुख-शान्ति का रहस्य है। पुरुष के लिये एक ही पत्नी और स्त्री के लिये एक ही पति की मर्यादा हर प्रकार से उचित, न्याय-सगत और निरापद सिद्ध हुई है। ब्रह्मचर्य अणुव्रत की धारणाओ के विपरीत, गृहस्थी मे जहाँ दो के बीच किसी तीसरे को लेकर त्रिकोण बनता है, वही दाम्पत्य की सारी गरिमा खण्डित हो जाती है। विश्वास टूट जाते है और तनाव बढ जाते है। अशान्ति का वातावरण पूरे परिवार को प्रदूषित कर देता है। जीवन का एक पल भी सहज नही रह जाता। घर मे 'आठ पहर का जूझना, बिना खाण्डे संग्राम' छिडा रहता है। तब शरीर भले ही एक छत के नीचे बने रहे, परन्तु मन अलग-अलग दिशाओ मे चल निकलते है। जिस गृहस्थी को प्यार की तुष्टि से महकना चाहिये था, वह असतोष की आँच में दहकने लगती है। एक मित्र ने इस दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना को इन शब्दो मे कहा था-

यह विसंगति जिन्दगी के द्वार सौ सौ बार रोई,
बाँह में है और कोई, चाह में है और कोई।

दूसरे भी भोगते है इसकी पीड़ा

सबसे अधिक अप्रिय तथ्य यह है कि जहाँ हिसा-झूठ चोरी और परिग्रह जैसे पाप व्यक्ति के स्वय के जीवन को कलकित या दूषित करते हैं, वहाँ व्यभिचार का पाप पूरे परिवार को कुण्ठाओं और पीडाओ के गर्त मे ढकेल देता है। खण्डित-दाम्पत्य के बीच सुकुमार-मति निर्दोष सतान की जो दुर्दशा होती है, उसके उदाहरण हम

सबने कही न कही देखे हैं। उन बेगुनाह बच्चों को अपने ही माता-पिता की नादानी का जो दुखद परिणाम भोगना पडता है उसे देखकर, कौन है जो सवेदना से द्रवित नही हो उठेगा? दरकते हुए दाम्पत्य मे दोनों के परिवारजन, मा-बाप और भाई-बहन जिस मानसिक वेदना की अनुभूति करते हैं, उसकी कल्पना भी दुखद है। अपनी सुख-शान्ति का विनाश करने के साथ-साथ इतने लोगो को, इतनी पीडा पहुँचाना क्या हिसा नही है ?

शायद इसलिये सयत आचार-विचार की परिभाषा करते हुये प्राय सभी विचारको ने निष्ठापूर्ण दाम्पत्य पर विशेष जोर दिया है। ब्रह्मचर्य-अणुव्रत तो अहिसा का साधक माना है। यदि जीवन में यह सकल्प साकार नहीं हो तो पाप-त्याग के अन्य संकल्प निभ सकेगे इसमे बहुत सन्देह है।

इस व्रत को दूषित करने वाले पाँच अतिचार कहे गये है- अन्यविवाह आकरण, अनग-क्रीडा, विटत्व, तीव्र-कामाभिनिवेश और इत्वारिकागमन।

१ दूसरो का विवाह कराने का व्यवसाय करना। दिन-रात उसी चिन्तन मे सलग्न रहना, तथा एक पत्नी के रहते दूसरा विवाह करना **'अन्य विवाह-आकरण'** है।

२ वासना-प्रधान चित्र, चलचित्र आदि देखना तथा अप्राकृतिक, विकृत और उच्छृखल यौनाचार मे रुचि रखना **'अनंग-क्रीडा'** है।

३ काम-सबधी निम्न स्तर के मनोरजन मे रुचि लेना। शरीर और वाणी से कुचेष्टाये करना। उत्तेजक और अश्लील साहित्क, कैसेट आदि का उपयोग करना, उसे रखना, उसका व्यापार करना और अन्य प्रकार से उसमे सहायक होना **'विटत्व'** है।

४. काम की तीव्र लालसा रखना, निरन्तर उसी विषय के चिन्तन मे लगे रहना। तरह तरह के कामोत्तेजक निमित्तो की संयोजना करना **'तीव्र-कामाभिनिवेश'** है।

५. चरित्र-हीन स्त्री-पुरुषो की संगति में रहना। पत्नी का चरित्र आदि दूषित हो गया हो, अथवा पति व्यभिचारी हो गया हो तब भी उसके साथ दाम्पत्य-सम्बंध बनाये रखना **'इत्वरिका-गमन'** है।

साधक को विशेष आसक्ति छोडकर, चित्त के विकार को शमन करने के अभिप्राय से, आहार सेवन के समान ही, मर्यादित काम सेवन करना चाहिये। जैसे किसी भी परिस्थिति मे एक सीमा से अधिक भोजन उदरस्थ नही किया जा सकता, ऐसा ही विवेक उसे वासना के सम्बन्ध में रखना चाहिये। तीव्र अभिनिवेश के कारण शरीर की शक्ति क्षीण होती है, उसमे रोग उत्पन्न होते है और सकल्प की दृढ़ता खण्डित होती है। इससे मन की एकाग्रता भी प्रभावित होती है।

ब्रह्मचर्य-अणुव्रत की पुष्टि के लिये कुछ भावनाए हैं -

- काम विकार उत्पन्न करने वाला अश्लील साहित्य नही पढ़ना।
- इस विषय की चर्चा-वार्ता का त्याग करना।
- महिलाओ की ओर विकारी दृष्टि से नही देखना।
- पूर्वकाल मे भोगे हुये भोग-विलास का स्मरण नही करना।
- इन्द्रियों को ललचाने वाले कामोद्दीपक पदार्थो का सेवन नही करना।
- शरीर का विलासिता पूर्ण श्रृगार नही करना।
- अग-प्रदर्शन करने वाले वस्त्र-आभूषण नही पहनना।

परिग्रह परिणाम अणुव्रत

परिग्रह की तृष्णा को अपने लिये अहितकर समझकर अतरग और बहिरग सभी प्रकार के परिग्रहो के ममत्व-भाव हटाना, परिग्रह का भार कम करने के उपाय करना और अपनी शक्ति के अनुरूप उनकी अल्पतम सीमा निर्धारित करके उससे अधिक सग्रह का त्याग कर देना, यही **'परिग्रह परिमाण-अणुव्रत'** की परिभाषा है। यह अपनी अतहीन इच्छाओ को सीमित करने का कौशल है अत इसका दूसरा नाम **'इच्छा-परिमाण व्रत'** भी है।

परिग्रह के प्रकार

परिग्रह के चौदह अतरग और दस बाह्य ऐसे कुड चौबीस भेद है। मिथ्यात्व या अविद्या, क्रोध-मान-माया और लोभ, हास्य-रति-अरति-भय-जुगुप्सा और शोक तथा स्त्री-पुरुष और नपुसक वेद सबधी वासना, यह चौदह प्रकार के अतरग परिग्रह हैं। दूसरे शब्दो मे ऐसा कह सकते है कि चेतना मे उठने वाली विकार की सभी तरंगे अंतरंग परिग्रह है। कामनाओं का ही दूसरा नाम है अतरंग परिग्रह।

बाह्य परिग्रह के दस भेद है- क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद, शयनासन-यान, कुप्य और भाण्ड ।

इन सब अतरग और बहिरग परिग्रहों मे, अपनी शक्ति, परिस्थिति और अनिवार्यता के अनुसार सीमा बाँध कर उनके बाहर जो अनन्त पदार्थ है उन सबका मन-वचन और काय से त्याग कर देना **'परिग्रह परिमाण-अणुव्रत'** है ।

परिग्रह-परिमाण व्रत का दूसरा नाम 'इच्छा-परिमाण व्रत' है । इच्छाओ का विस्तार असीम है । यदि उन्हे सीमित न किया जाये तो इच्छाए मानव को दानव के समान भयावह और विवेकहीन बना कर उसके जीवन को विद्रूप और पराधीन बनाती रहती हैं ।

मनुष्य जब अपनी इच्छाओ के अधीन हो जाता है तब वह चाहता है कि सबसे अधिक सुख-सुविधाए और साधन उसी के पास हो । सारा वैभव, यश और खुशियाँ उसे ही मिलती रहें । मजे की बात यह है कि जैसे-जैसे इच्छाओ की पूर्ति होती जाती है, वैसे ही वैसे उनका दायरा बढता जाता है । तृष्णा की यही विशेषता है कि वह कभी समाप्त नही होती । वह ऐसी आग है जो बुझना जानती ही नही ।

आज समाज मे जो शोषण-वृत्ति, अविश्वास, ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट, दुख-दारिद्रय, लूट-मार और शोक-सताप ऊपर से नीचे तक व्याप रहे हैं, उनका प्रमुख कारण परिग्रह-वृत्ति, जमाखोरी, मुनाफाखोरी या सग्रह की भावना ही है । परिग्रह-वृत्ति हिसा का मूल कारण है । इससे बचना या इस पर नियत्रण रखना ही हितकर है, इसलिये गृहस्थ श्रावक को इच्छा-परिमाण व्रत का परामर्श दिया गया है ।

भाव-हिसा और द्रव्य-हिंसा की तरह परिग्रह मे भी ये भेद करना चाहिये । पदार्थो के साथ मन मे लगाव रखना, उनके व्यामोह की मूर्च्छा मे खो जाना **'भाव-परिग्रह'** है । मनचाही वस्तुओ का स्वामित्व प्राप्त कर लेना, उन पर काबिज हो जाना **'द्रव्य-परिग्रह'** या भौतिक-परिग्रह है ।

भौतिक परिग्रह मेरा बना रहे और भीतर से उसकी लोलुपता छूट जाये ऐसा नहीं होता, इसलिये बाह्य परिग्रह का त्याग साधक के लिये अनिवार्य है । अंतरंग में जितना ममत्व-भाव हो उतने पदार्थ मिल ही

जाये, ऐसा नियम तो नही है, परन्तु बाहर जितना हमने जोडकर, सँजोकर रखा है, जिसकी रक्षा के लिये हम दिन-रात चिन्तित हैं, नियम से उसकी ममता हमारे भीतर होगी । धान का ऊपरी छिलका चढा रहे और भीतर का महीन लाल छिलका उतर जाये यह कैसे सम्भव है ?

परिग्रह परिमाण-अणुव्रत मे विक्षेप उत्पन्न करने वाले पाँच अतिचार है- अतिवाहन, अतिसग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ, और अति-भारवाहन । इन की व्याख्या इस प्रकार होगी-

१ अधिक लाभ की आकाक्षा मे शक्ति से अधिक दौड-धूप करना । दिन-रात उसकी आकुलता में उलझे रहना और दूसरो से भी नियम-विरुद्ध अधिक काम लेना '**अतिवाहन**' है ।

२ अधिक लाभ की इच्छा से उपभोक्ता वस्तुओ का अधिक समय तक सग्रह करके रखना । यानी अधिक मुनाफाखोरी या जमाखोरी की भावना रखकर सग्रह करना '**अतिसंग्रह**' है ।

३ अपने अधिक लाभ को देखकर अहकार में डूब जाना और दूसरो के अधिक लाभ मे विषाद करना, जलना-कुढना और हाय-हाय करना '**अतिविस्मय**' है । अपनी निर्धारित सीमा को भूल जाना या बढाने की भावना करना भी उसमे शामिल है ।

४ मनचाहा लाभ होते हुये और लाभ की आकाक्षा करना । क्रय-विक्रय हो जाने के बाद भाव घट-बढ जाने से, अधिक लाभ की सम्भावना को अपना घाटा मानकर सक्लेश करना '**अतिलोभ**' है ।

५ लोभ के वश होकर किसी पर न्याय-नीति से अधिक भार डालना, तथा सामने वाले की सामर्थ्य के बाहर अपना हिस्सा, मुनाफा, ब्याज आदि वसूल करना '**अति-भारवाहन**' है ।

पांच इन्द्रियो के माध्यम से स्पर्श, रस, रूप गन्ध और शब्द-स्वर आदि का ज्ञान होता है । इसी माध्यम से वस्तुओ के सग्रह की भावना बढती जाती है, अत पाँच इन्द्रियो के विषयो पर नित्य नियत्रण की भावना रखना परिग्रह-परिमाण व्रत की भावना है ।

पाप दुख रूप हैं : दुख के बीज भी हैं ।

हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप दुख रूप हैं ।

जिसके साथ हिसा आदि का व्यवहार किया जाता है वह तो दुखी होता ही है, परन्तु इन्हें करते समय पाप करने वाले को भी कई प्रकार के दुख झेलने पडते हैं। पाप करते समय मनुष्य को आकुलता, भय, शका और तृष्णा आदि न जाने कितने प्रकार की मानसिक पीड़ाऐ सहनी पडती हैं, अत पाप दुख रूप हैं। आगामी काल मे इन पापो का दुष्फल भोगना पडेगा तब भी तरह-तरह के दुख जीव को उठाने पडेंगे, अत पाप दुख के बीज भी हैं।

बध-बधन और पीडन जिस प्रकार मुझे अप्रिय हैं, इसी प्रकार वे दूसरे प्राणियो को भी अप्रिय और कष्टकर होगे।

किसी के कठोर और कटु-वचन सुनकर या झूठी बातो से जैसे मुझे दुख होता है वैसे ही दूसरो को भी दुख होता होगा।

मेरी किसी वस्तु की चोरी हो जाने पर, या ठगे जाने पर मुझे जैसी पीडा होती है, वैसे ही दूसरे लोग भी वस्तु के वियोग मे पीडित होते होंगे।

किसी के द्वारा मेरी माता-बहिन या बेटियो का जरा सा भी तिरस्कार हो जाये तब मुझे जैसा मानसिक कष्ट होता है, वैसा ही अपनी माता-बहिन-पत्नी या पुत्री को लेकर दूसरो को भी होता होगा।

परिग्रह-प्राप्ति मे बाधा आ जाने पर, या प्राप्त परिग्रह के नष्ट हो जाने पर जैसे मुझे वाछा और शोक आदि का दुख उठाना पडता है, वैसा ही दूसरो को भी होता होगा।

बार-बार ऐसा चिन्तवन करने से यह आस्था बनेगी कि हिसादिक पाप केवल दूसरो के लिये ही दुखद नही है, वे मेरे लिये भी वर्तमान मे दुख-रूप हैं तथा भविष्य मे दुख के बीज सिद्ध होगे। आज भोगते समय भोगो मे भले ही क्षणिक सुख का आभास होता हो, परन्तु कालान्तर में इसके फल स्वरूप जब मुझे दुखों की फसल काटनी पडेगी, तब यातनाओ, पीडाओ और सक्लेशो के चक्र-व्यूह मे मेरी आत्मा अकेली ही होगी। उस समय मेरा कोई सहाई नहीं होगा।

नही, अब मुझे यह कटीली फसल बोनी ही नहीं है। अपने कुरुक्षेत्र को सुलगने नहीं देना है। पाँच ग्राम देकर यह संघर्ष टलता हो तो यह अवसर खोना नहीं है।

क्या सचमुच परिग्रह पाप है ?

शास्त्रो में पग-पग पर परिग्रह को पाप बताया गया है। जिसने भी आत्म-कल्याण का सकल्प लिया उसने सबसे पहले परिग्रह का ही त्याग किया है। प्राय सभी धर्मग्रन्थो में परिग्रह की निन्दा की गई है, परन्तु बात कुछ समझ मे आती नहीं। सारी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध कराने की सामर्थ्य रखने वाली सम्पदा पाप कैसे हो सकती है? कुछ लोग उसे पुण्य का फल भी तो कहते हैं? पुण्य का फल और 'पाप' यह कैसे हो सकता है ? ऐसे अनेक प्रश्न परिग्रह को लेकर उठते हैं। यदि परिग्रह पाप है तो उसका जहरीलापन समझा जाना चाहिये। उसे सही परिप्रेक्ष्य में पहचाना जाना चाहिये। इसलिये परिग्रह पर कुछ और विचार करेंगे।

अपरिग्रह

एक व्यक्ति मकान बनवाना चाहता था। उसने वास्तुकार से अपने मन का नक्शा तैयार करवाया। नक्शा सचमुच बहुत अच्छा बना था। उसके साथ निर्माण के लिये तकनीकी परामर्श (वर्किंग डिजाइन्स) भी साथ मे दी गई थी। इस सब के लिये धन्यवाद देते हुये वास्तुकार से प्रश्न किया गया -'बहुधा पहली बरसात मे नये मकान मे भी पानी टपकने लगता है। आप इतनी कृपा और करे कि इस नक्शे मे उन स्थलो पर निशान लगा दे जहाँ पानी टपकने की हालत मे मरम्मत करानी चाहिये।'

प्रश्न सुनकर वास्तुकार चकित था। अपने व्यावसायिक जीवन मे पहली बार ऐसे प्रश्न से उसका सामना हुआ था। उसने कहा- 'बन्धु ! यदि मेरी डिजाइन के अनुसार निर्माण होगा तो मकान मे पानी टपकने का कोई प्रश्न ही नही है। परन्तु, यदि किसी कारण से, कभी, छत टपकने ही लगे तो उस समय कहाँ मरम्मत करानी होगी, यह आज नक्शे मे कैसे रेखाकित किया जा सकता है ? जब पानी टपके तभी आप देख ले कि पानी कहाँ से टपकता है, बस वही मरम्मत करानी होगी।'

भगवान महावीर ने हमे अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिये भी एक ऐसा नक्शा दिया था जिससे एक छिद्र-रहित भवन हम

बना सकते थे । उन्होने जीवन-निर्माण के लिये कुछ ऐसे तकनीकी परामर्श दिये थे जिन पर यदि अमल किया जाता तो एक निष्पाप और निष्कलक व्यक्तित्व हमारा बन सकता था । हमारे जीवन मे पाप का प्रवेश हो ही नहीं सकता था । परन्तु हम चूक गये ।

अपने व्यक्तित्व का प्रासाद खड़ा करते समय हमने महावीर के निर्देशो का पालन नही किया । इसी का फल है कि हमारे जीवन में पाँच पापो का प्रवेश हो रहा है । यदि हमने अपने जीवन का निर्माण उनकी बताई हुई पद्धति पर किया होता तो उसमे पाप के रिसाव की कोई आशका ही नही रहती । अब हमारे सामने समस्या यही है कि अपने सछिद्र व्यक्तित्व को परिपूर्ण बनाने के लिये हम क्या उपचार करे ? हमारे जीवन मे जगह-जगह पाप का मलिन जल टपक रहा है, किस तरफ से उस चुअन को रोकने का प्रयास करें ?

पाप-प्रवृत्तियों से बचने के लिये महावीर का यही परामर्श है कि हम निरन्तर आत्म-अवलोकन करते रहे और जिस आचरण के माध्यम से हमारे जीवन मे पाप का प्रवेश होता दिखे, उस आचरण को पूरी सार्थकता के साथ अनुशासित करने का प्रयत्न करें ।

पाप की जड़ : लिप्सा

आज हमारे जीवन मे परिग्रह ही शेष चार पापो के द्वार खोल रहा है । आज वही कैन्सर की व्याधि बनकर हमारे मन-मस्तिष्क पर छाया हुआ है । जीवन मे प्रवेश करती हुई पाप की धारा को रोकने के लिये, हमे पहले अपनी परिग्रह-लिप्सा पर अंकुश लगाना होगा, तभी उस दिशा मे आगे बढा जा सकता है ।

हिसा, झूठ, चोरी और कुशील से हम सब घृणा करते हैं, परन्तु परिग्रह से कोई घृणा नही करता । उल्टे उसके सान्निध्य मे हम अपने आप को सुखी और भाग्यवान समझने लगे हैं । यह परिग्रह-प्रियता हमें भीतर तक जकड़ रही है । यह हित-अहित का विवेक भी हमसे छीन रही है । आज परिग्रह के पीछे मनुष्य ऐसा दीवाना हो रहा है कि उसके अर्जन और संरक्षण के लिये वह, करणीय और अकरणीय, सब कुछ करने को तैयार है ।

हम अनजाने भी हिसक नहीं होना चाहते, परन्तु परिग्रह के अर्जन और रक्षण के लिये जितनी हिसा करनी पडे, हम करते जा रहे है।

हम स्वप्न मे भी झूठ और चोरी मे अपनी प्रतिष्ठा नही मानते। उनके बिना अपने आपको दुखी भी नही मानते। परन्तु परिग्रह के अर्जन और रक्षण के लिये जो भी करना पडे, हम करते जाते हैं।

आज हमारी जीवन पद्धति मे व्यभिचार और कुशील निन्दनीय माने जाते हैं। कोई कुशील को अपने जीवन मे समाविष्ट नही करना चाहता परन्तु परिग्रह के अर्जन और रक्षण के लिये जितना कुशील-मय व्यवहार करना पडे, हममे से प्राय सब उसे करने के लिये तैयार बैठे हैं। परिग्रह लुब्धता भाई-भाई का शील तोड रही है।

परिग्रह को लेकर कही अनुज अग्रज के सामने आखे तरेर कर खडा है। उसकी अवमानना और अपमान कर रहा है। कही अग्रज अपने अनुज को कोर्ट-कचहरी तक घसीट रहा है। परिग्रह को लेकर ऐसे तनाव प्रकट हो रहे हैं कि बहिन की राखी भाई की कलाई तक नही पहुँच पा रही। परिग्रह के पीछे पति-पत्नी के बीच अनबन हो रही है और मित्रो मे मन-मुटाव पैदा हो रहे है।

ये होने के पहले ही टूटते हुए रिश्ते, ये चरमराते हुए दाम्पत्य, परित्यक्ता पत्नियो की ये सुलगती हुई समस्याए, और दहेज की वेदी पर झुलसती-जलती ये कोमल-कलियाँ, हिसा-झूठ और चोरी का परिणाम नही है। ये सारी घटनाए व्यभिचार के कारण भी नही घट रही। मानवता के मुख पर कालिख पोतने वाले, और समाज मे सडाध पैदा करने वाले ये सारे दुष्कृत्य, हमारी परिग्रह-लिप्सा का ही कुफल हैं। गहगई मे जाकर देखे तो इनमे से अधिकाँश घटनाओ के पीछे हमारा लोभ, हमारी लालच, और भौतिकता के लिये हमारी अतृप्त-आकाँक्षाएँ ही खडी दिखाई देगी।

जैन आचार-सहिता मे परिग्रह की लोलुपता को सभी पापो की जड बताते हुये कहा गया- 'मनुष्य परिग्रह के लिये ही हिसा करता है। सग्रह के निमित्त ही झूठ बोलता है और उसी अभिप्राय से चोरी के कार्य करता है। कुशील भी व्यक्ति के जीवन में परिग्रह की लिप्सा के

माध्यम से ही आता है। इस प्रकार परिग्रह-लिप्सा आज का सबसे बडा पाप है। उसी के माध्यम से शेष चार पाप हमारे जीवन मे प्रवेश पा रहे है। लिप्सा ही वह छिद्र है जिसमे से होकर हमारे व्यक्तित्व के प्रासाद में पाप का रिसाव हो रहा है-

संग णिमित्तं मारइ भणाई अलीकं करेज्ज चोरिक्कं,

सेवइ मेहुण-मिच्छं, अपरिमाणो कुणइ पावं।' -समणसुत्त

बलिहारी है बुद्धि की

एक सत ने तृष्णावान पुरुषो पर व्यग करते हुये कहा है- 'आपकी परिग्रह-प्रियता अनोखी है। जैसे-जैसे काळ बीत रहा है, वैसे ही वैसे पुरुषार्थ के द्वारा आपकी धन-वृद्धि हो रही है, जो आपको अत्यन्त प्रिय है। परन्तु इस तृष्णा मे आप यह भूल जाते हैं कि एक ओर जिस गति से काल व्यतीत होता है, उसी गति से दूसरी ओर आपकी आयु भी क्षीण हो रही है।'

-'इसके बाद भी आप अपनी प्रतिक्षण खिरती हुई आयु का कोई सार्थक उपयोग नही करना चाहते। यह जानते हुये भी धन की ही आकॉक्षा मे लगे हुये है। इससे सिद्ध होता है कि आप अपने जीवन से अधिक अपनी धन-सम्पदा को चाहते हैं। आपकी बुद्धि विलक्षण है, आपकी परिग्रह-प्रतिबद्धता धन्य है।

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्ष, हेतुं कालस्य निर्गमम्।

वॉच्छता धनिनामिष्टं, जीवितात्सुतरां धनम्॥ -इष्टोपदेश/15

यह कैसा गणित है हमारा ?

वास्तव में हमारे आर्थिक चिन्तन मे कही न कही कोई भूल अवश्य हो रही है। लगता है कि हम अपने जीवन मूल्य उसके साथ जोड नहीं पा रहे है। उदाहरण के लिये कोई एक मकान बन रहा है। उसके लिये हमारे पास पूरा तखमीना तैयार है। भूमि के मूल्य से लगाकर, ईंट, सीमेन्ट और वह सब कुछ जो भवन के निर्माण मे लगने वाला है, उस सब की कीमत जोडकर हमने पूरे मकान की लागत का अनुमान कर लिया है। परन्तु उसे बनवाते समय हमारे जीवन के जो अनमोल वर्ष लगेने वाले हैं उसका कोई मूल्य हमारी लागत में शामिल नहीं है।

मकान बनते समय जितनी देर मे एक ईंट रखी जाती है, उतनी देर में हमारी एक साँस तो निकल ही जाती है। कभी विचार करें कि इस साँस का मूल्य किस खाते मे जोड़ा गया है? आखिर स्वासो की भी तो एक निश्चित सीमा है। भवन की आखिरी ईट के साथ निकलने वाली साँस ही यदि हमारी आखिरी साँस हो तो उस मकान की लागत क्या होगी?

ससार में अपना गुजारा करने के लिये परिग्रह जोडना और उसका सरक्षण करना आवश्यक है, परन्तु उसके जाल मे उलझ कर, सग्रह को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेना बुद्धिमत्ता नही है। इच्छाओं की सीमा निर्धारित करके, आकाँक्षाओ पर अकुश लगाकर, हम सम्पत्ति के साथ साता, सुख और संतोष का अर्जन कर सकते हैं। वही हमे करना चाहिए।

सुख का मूल है : संतोष

कहा जाता है कि पहले कभी सतयुग मे सब के आगन मे कल्प-वृक्ष हुआ करते थे। जीवन की सभी आवश्यक वस्तुए, याचना करने पर उन कल्प-वृक्षो से प्राप्त हो जाती थी। शायद वह तब की बात होगी जब मनुष्य को सग्रह का रोग नही था। उसकी आवश्यकताए सीमित थी और वह अपने वर्तमान मे जीना जानता था। समाज मे छीना-झपटी और सचय की होड नहीं थी।

आज परिस्थितियाँ कुछ अलग प्रकार की हैं। सादगी का सौन्दर्य और सतोष की सुगन्ध हमारे जीवन मे कहीं दिखाई नही देती। व्यय का आय के साथ कोई संतुलन नही है। हमारी असीम-आकाँक्षाओ से डर कर ही शायद कल्प-वृक्ष कही छिप गये है। वे लुप्त नही हुए। आज भी यदि संचय की तृषा न हो, और आकाँक्षाएं सीमित हो, तो हर आँगन मे कल्प-वृक्ष उगाये जा सकते हैं।

यही बात कबीरदास ने अपने शब्दों मे कही- 'गाय-बैल, हाथी-घोडे और मणि-माणिक्य, ये सब धन होगे परन्तु एक इनसे भी बडा धन है। वह 'सतोष-धन' जब उपलब्ध होता है तो ये सारे धन महत्वहीन हो जाते हैं'-

गो धन गज धन बाजि-धन और रतन धन खान,
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान।

हमने धन-सम्पत्ति के साथ अपने सुख-दुख जोड रखे है । वास्तव मे यह धारणा मिथ्या है । विचार कर देखे तो सुख और दुख धन-सम्पत्ति मे नही, उसके साथ हमारी समझ मे निहित हैं । जिस पदार्थ या जिस जीव के साथ हमारा जैसा रागात्मक सम्बन्ध है, उसे लेकर वैसे ही सुख-दुख हमे व्यापते हैं । सम्पत्ति से हमने जो अपेक्षाये कर रखी हैं उन्हीं के अनुसार हमारे सुख-दुख के प्रतिमान बदलते रहते हैं ।

कोई व्यक्ति एक मकान पाकर सुख मानता है । दुर्घटनावश यदि मकान जल जाये तो उसका दुखी होना भी समझ मे आता है । परन्तु परिग्रह के समीकरण इस गणित को भी पलट देते हैं । कभी ऐसा भी होता है कि मकान से मालिक को आकुलताए मिलती हैं और मकान जल जाये तो वह सुखी हो जाता है ।

एक व्यक्ति का किसी शहर मे एक मकान था । पुराना मकान और उसमे पुराने किरायेदार । भाडा बढाने की बात कौन कहे, पिछला भी वसूल नही होता था । नगरपालिक निगम के कर अपने पास से भरने पडते थे । मकान बेचने की बात चलाते, परन्तु लाख-दो लाख का भी लेवाल नही मिलता था क्योंकि मकान पर कब्जा मिलना बहुत कठिन था । एक दिन किसी ने फोन पर खबर दी कि -' आपका मकान जल गया । जहॉ तीन मजिला खडा था, वहॉ अब सिर्फ राख का ढेर है ।

खबर सुनते ही घर मे मातम छा गया । उस दिन चूल्हा भी नही जला । जैसा भी था, इतने बडे शहर में अपना एक मकान तो था । पाप के उदय से आज वह चला गया । गाव भर के लोग समझाने और धीरज बॅधाने चले आ रहे थे । बिल्कुल ऐसा माहौल था जैसे परिवार में किसी की मृत्यु हो गई हो । रोना-धोना समझाना सब वैसा ही ।

शाम की गाडी से दलाल ने आकर कहा- 'एक ग्राहक मिला है । पॉंच लाख मे लेने को तैयार है । सौदा स्वीकार करें तो एक लाख बयाना मै अपने साथ लाया हूँ ।'

गृहपति ने ठण्डी सॉंस लेते हुये कहा- 'क्यों जले पर नमक छिडकते हो भाई, जिस मकान के बेचने की बात थी वह तो अब रहा ही नही । कल उसमें आग लग गई । अब तो सब नष्ट हो गया, वहॉं सिर्फ राख का ढेर है ।'

दलाल ने हँसते हुये कहा- 'वह सब मुझे मालूम है। आग लगने के बाद ही वहाँ से चला हूँ। पहले कब्जा मिलने मे कठिनाइयाँ थी, इसलिए कोई खरीदार नही था। अब सारी कठिनाइयाँ दूर हो गई। जमीन एकदम खाली पडी है। आज कब्जा लेकर कल से वहाँ नया निर्माण आरम्भ कराया जा सकता है। इसीलिए कई ग्राहक सामने आ गये हैं।'

'आप तो दो लाख मे देने को तैयार थे। मै पाँच लाख का बयाना लेकर आया हूँ। परन्तु मेरी राय है कि आप बेचने मे जल्दबाजी न करे। यदि दस दिन भी ठहर जाये तो सात-आठ लाख का ग्राहक मै तलाश कर लाऊँगा।'

दलाल की बात सुनते ही घर का माहौल बदल गया। रुदन की जगह हर्ष और उल्लास लहराने लगा। बुझा पडा चूल्हा जल उठा। जो मातम-पुरसी के लिये आ रहे थे उनके चाय-नाश्ते की व्यवस्था होने लगी। सब के मुख पर मुस्कान खिलने लगी।

यह हमारे मन का एक चित्र है। हर कोई प्राय जमीन और मकान का मालिक बनकर प्रसन्न होता है। यदि उस सम्पत्ति को जरा भी क्षति पहुँचे तो स्वामी का दुखी होना एकदम स्वाभाविक है, परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि सम्पत्ति के रहते उसमे सुख और सतोष न मिले, उल्टी आकुलताएँ ही मिलती रहे और सम्पत्ति आग मे स्वाहा हो जाये तब हम उसमे सुख की अनुभूति करे, हर्ष मनाये। प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति मे नियम क्या माना जाये ? मकान सुरक्षित रहेगा तब उसमें सुख मिलेगा या उसके जल जाने पर सुख की अनूभूति होगी ?

वास्तविकता यह है कि मकान के रहने या जल जाने का हमारे सुख-दुख के साथ सीधा सम्बन्ध नही है। अपनी-अपनी होनहार और सयोगो के आधार पर जगत के पदार्थ उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। अपनी-अपनी आयु के अनुसार सभी प्राणी जन्मते और मरते रहते हैं। इसी परिवर्तन-चक्र का नाम तो ससार है। इस विशाल विश्व के ऐसे नित्य-परिवर्तन हमारे सुख-दुख के नियामक नही हैं।

सुख-दुख के सारे समीकरण हमारी अपनी समझ पर, अपने अनुबधो पर और अपने दृष्टिकोण पर निर्भर हैं। जिसके सम्पर्क मे आज हम सुख मानते हैं, कल हमें उसका वियोग सुखद लगता है। आज

जिसका साथ सुखद लगता है, समय फिरते ही कल उसका सग-साथ दुखद लगने लगता है। विचार करे तो सुख की सारी मान्यता के पीछे हमारी बुद्धि के यही समीकरण दिखाई देगे।

ऐसी स्थिति मे सम्पत्ति पर ऐसे लेबिल नही लगाये जा सकते कि इसके समागम मे सुख मिलेगा, और इसके नाश होने पर सुख मिलेगा। अतिम निष्कर्ष यही निकालना होगा कि सुख और दुख पदार्थो मे नही है, वे हमारी कल्पनाओ मे हैं। वास्तव मे सुख और दुख का कही कोई अस्तित्व ही नही है। हम अपनी वर्तमान परिस्थितियो मे, दूसरी परिस्थितियो के साथ उनकी तुलना करके, अपने आप को सुखी या दुखी बनाते रहते हैं। सुख और दुख वास्तविक नही, काल्पनिक हैं। वे निरपेक्ष नही सापेक्ष हैं। उनकी उत्पत्ति पदार्थों मे नही हमारी बुद्धि मे होती है। वे दोनो हमारी कल्पना - लता के प्रसून है।

इससे यह भी समझ मे आना चाहिये कि सुख और दुख दोनो हमारे हाथ मे ही हैं। हम चाहे जिस परिस्थिति मे हो, चाहे जिस घटना से प्रभावित हो रहे हो, उसमे सुख का अनुभव करना, या दुख का अनुभव करना, एक सीमा तक हमारे वश मे है। जब हम अपने से अधिक सुखी व्यक्तियो की कल्पना करते है, उनके सुख पर विचार करते है, तब हम अपने लिये दुख का अनुभव कर लेते हैं। परन्तु यदि हम अपने से अधिक दुखी व्यक्तियो की कल्पना करे, उनके दुखो का विचार करे, तो उसी समय हम सुख का अनुभव कर सकते हैं।

हमने सुख-दुख का सीधा-सम्बध परिग्रह के सयोग-वियोग से जोड लिया है। ऐसी ही धारणा बना ली है। शायद यही हमारी सबसे बडी भ्रान्ति है। इस पर गहनता से विचार करना चाहिये।

क्या दिया है परिग्रह ने?

लालसा से भरा हमारा मन जहॉ तक जाता है, वहाँ तक सब कुछ हमारा परिग्रह है। यह मन की लालसा चित्त को व्यामोह की कुडली मे कस लेती है। आचार्यों ने लालसा की इसी वृत्ति को 'मूर्च्छा' कहा है। जिसके मन में पर पदार्थ के प्रति गहरी लालसा है, मूर्च्छा-भाव है, सारा ससार उसका परिग्रह है। जिसके मन में यह मूर्च्छा-भाव निकल गया है, ससार में रहते हुये भी, संसार उसका परिग्रह नहीं है-

मूर्च्छाच्छन्न धियां सर्व जगदेव परिग्रह,
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवाऽपरिग्रह ।

आज परिग्रह की मूर्च्छा मे से उपजा असतोष मनुष्य को अनेक वर्जित दिशाओ मे ले जा रहा है । कामनाओ से तृषित पत्नी अपने पति से सतुष्ट नही है । धन के मद से नित-नई चाह रखने वाला पति अपनी पत्नी मे कोई नवीनता नही देख पाता । उसकी दृष्टि कही अन्यत्र है । जहॉ व्यभिचार के अवसर नही है वहॉ भी मानसिक व्यभिचार निरतर चल रहा है । जीवन तनावों मे कसा हुआ नरक बन रहा है । जिसके पास जो कुछ है, वह उससे सतुष्ट नही है ।

एक कोयल का बच्चा रो रहा था । उसे अपने काले-कलूटे पखो पर चिढ आ रही थी । अभी-अभी उसने मयूर की पीठ पर सुन्दर सतरगे पख देखे थे । उसे भी ऐसे ही लुभावने पख चाहिये ।

कोयल जब अपने नन्हे-मुन्ने को समझाते-समझाते थक गई तब उसे लेकर मयूरी के पास चली । शायद उसके गिरे-पडे पख पाकर ही बच्चा बहल जाये । पर वहॉ दूसरा तमाशा हो रहा था । मयूर का बच्चा मचल-मचल कर गे रहा था । उसे अपनी भोडी आवाज एकदम नापसन्द थी । उसे कोयल की तरह मीठी और सुरीली आवाज चहिये ।

हमारे साथ भी क्या ऐसा ही नही हो रहा? जिसके पास जो है, उसमे उसे कोई सुख, कोई सतोष नही मिल रहा । परन्तु जो उसके पास नहीं है, और वह दूसरो के पास है, उसका अभाव उसे निरतर दुखी कर रहा है । वस्तु का अभाव नहीं, उसकी वॉच्छा दुख का कारण है ।

संसार के किसी भी पदार्थ को ले ले, किसी भी उपलब्धि पर विचार कर लें । जिसे वह प्राप्त नही है वह उसे पाने के लिये दुखी है, परन्तु जिसे वह प्राप्त है, वह भी सुखी नही है । वह तो किसी और पदार्थ के लिये, किसी दूसरी उपलब्धि के लिये अपने मन मे आकर्षण पाल रहा है । उसी लालमा मे दिन-रात दुखी हो रहा है । परिग्रह-लिप्सा ने हमे सिर्फ अतृप्ति दी है । एक अन्तहीन अतृप्ति ।

भोगने का भी समय नहीं

परिग्रह का अर्जन और संकलन मूलत सुख भोगने की दृष्टि से किया जाता है । परन्तु लिप्सा ने हम पर ऐसा जादू कर रखा है कि

सचय हमारा अतिम लक्ष्य बनकर रह गया है। हम अन्तिम सास तक जोडना ही चाहते है। सचित को भोगने की, या दूसरों के हित मे उसका व्यय करने की हमारी कोई योजना ही नही होती। लगता है कि यह सम्पत्ति हमारे लिये नहीं आ रही, वरन् हम ही इस सम्पत्ति के लिये बने हैं। धर जा, मर जा, और बिसर जा, क्या यही हमारी नियति है।

एक सत कहा करते थे- गरीब जुलाहा भी एक बीता ताना छोडकर बुनाई समाप्त कर देता है। हम शायद उससे भी गये-बीते हैं जो आखिरी छोर तक और अतिम सास तक ताना-बाना बिठाते रहना चाहते हैं। दुनिया के हाट से अपनी दुकान समेटना ही नही चाहते।

भिखारी बनाती है लालसा

हम अनुभव कर सकते हैं कि आज परिग्रह के प्रति यह अधी लालसा, सारे पापो और अनीतियो का कारण बनकर, हमारे जीवन को प्रदूषित और मलिन कर रही है। यदि इस प्रदूषण से बचकर जीवन को उसकी स्वाभाविक सुगंधि और पवित्रता प्रदान करनी है, तो हमे अपनी परिग्रह-लिप्सा पर विचार करना ही होगा। उसका कोई अन्य मार्ग नही है।

तृष्णा का दश बहुत विषहरा होता है। उसकी लहर मे मन की प्यास बढती जाती है। चित्त मे क्षोभ बना रहता है, और मनुष्य एक विशेष प्रकार की रुग्ण-मानसिकता का शिकार हो जाता है। अपनी पुरानी कविता की दो पक्तियाँ मुझे याद आती हैं-

वह पराधीन है, सबसे बड़ा भिखारी है,
जिसमें अनन्त अभिलाषा है, संतोष नहीं।

राजा या रंक

किसी बादशाह का लश्कर जा रहा था। किसी पड़ोसी राज्य पर चढाई की तैयारी थी। हाथी-घोडो, रथ और पयादो के बीच मे एक सजे-धजे हाथी के हौदे पर बादशाह सीना तान कर बैठा था। अकस्मात एक ओर से एक रुपया सन्नाता हुआ आया और सीधा शहशाह की नाक पर लगा। वे पीडा से तिलमिला उठे। उन्हें हौदे से उतारा गया। कुछ लोग उनके उपचार मे जुट गये और कुछ इस

तलाश मे कि वह रुपया उन पर किसने फेका । थोडी ही देर मे वे एक फकीर को पकड कर लाये -

-'यही वह गुनहगार है जिसने हुजूर को चोट पहुँचाई है ।'

शहशाह तो अपनी चोट की पीड़ा भोग रहे थे परन्तु उनका सेनापति क्रोध से उबल रहा था । बहुत दर्प भरे स्वर मे उसने प्रश्न किया- 'बादशाह पर हमला करने की तुम्हे हिम्मत कैसे हुई?'

-'मैने कोई हमला नही किया । किसी भक्त ने मुझे एक रुपया दिया था । मैने वह रुपया अपने साँई की नजर किया । उन्होंने रुपया मुझे लौटा कर कहा- फकीर कभी रुपया पैसा अपने पास नही रखते । जितनी जल्दी हो सके इसे किसी जरूरतमन्द को दे देना ।'

रात भर वह रुपया मेरी झोरी मे था, लेकिन उसका बोझ मेरे मन पर बना हुआ था । इसके होने का अहसास बराबर मेरी रूह को बेचैन किये हुए था । वह मुझे चुभ रहा था । सुबह से मैं इसी तलाश मे इस सडक किनारे बैठा हूँ कि कोई जरूरतमन्द नजर आवे और उसे यह रुपया सौप कर मै अपना बोझ हल्का करूँ ।

फकीर ने बादशाह की ओर मुखातिब होकर नम्रता से कहा- 'आप दिखे, लेकिन आप इतनी ऊँचाई पर बैठे हुये थे कि मुझे यह रुपया निशाना साध कर आपकी ओर उछालना पडा । जरूरतमन्द को इतना ऊँचा नही बैठना चाहिये कि मददगार का हाथ ही उस तक न पहुँच सके । फिर आपके हाथ मे कोई कटोरा भी न था, इसलिये रुपया आपके चेहरे पर गिरा । मै सिर्फ आपकी मदद करना चाहता था । आपको चोट पहुँचाना मेरा मकसद नही था ।'

दर्द के बीच भी फकीर की बातो पर बादशाह को हँसी आ गई ।

-'तुमने मुझे जरूरतमद और रुपये का मोहताज समझ लिया यह तुम्हारी बुद्धि का दिवालियापन है । जानते हो मै कौन हूँ ?'

फकीर ने मुस्कुराते हुये कहा- 'जहाँ पनाह ! मै तो आपको पहिचानता भी नही था । मैंने आपके सिपह-सालारो से ही पूछा । मुझे बताया गया कि आप पडोस की रियासत पर चढाई करके उसे अपनी सल्तनत मे शामिल करने की आरजू लेकर घर से निकले हैं । मैने अपनी जिन्दगी में बहुत से जरूरतमद लोग देखे हैं, लेकिन उनकी जरूरते

छोटी, बहुत मामूली किस्म की हुआ करती थी। आप जैसा बडा और रौब-दाब वाला जरूरतमद मैने आज पहली बार देखा था। मुझे लगा कि इससे बडा ख्वाहिशमद फकीर शायद तलाशने पर भी मुझे नही मिलेगा। बस, यही सोचकर मैने अपनी झोली मे पडा रुपया आपके पास तक पहुँचाने की कोशिश की।'

-'जो अपनी ख्वाहिश के लिये दूसरे को नेस्त-नाबूत करने चल पडा हो, जो उस मकसद पर लागो की जिन्दगी भी कुर्बान करने पर तुला हो, उससे वडा और सच्चा 'जरूरतमन्द' कौन होगा ?'

लोभ और तृष्णा इसी तरह राजा को रक और भिखारी बना देती है। जो आशा और तृष्णा के गुलाम हो गये, वे सारी-दुनिया के गुलाम हो जाते हैं, परन्तु आशा को जिन्होने वश मे कर लिया, सारा ससार उनके वश मे हो जाता है। वे लोक-विजयी होकर मानवता के मार्ग-दर्शक बन जाते है। यही बात एक नीतिकार ने कही-

आशाया ये दासा:, ते दासा सर्वलोकस्य
आशा येषां दासी, तेषां दासायते लोक ।

तब हमे अपनी चिर-पोषित अतृप्त आकॉक्षाओ को, और अनावश्यक आवश्यकताओ को, क्या बार-बार परखते नही रहना चाहिये? क्या उन पर अकुश लगाने का प्रयास नही करना चाहिये ?

पाना या खोना एक ही तो है

देहात के किसी स्कूल मे एक दिन दो विद्यार्थी देर से पहुँचे। अध्यापक ने दोनो से विलम्ब का कारण पूछा। पहले विद्यार्थी ने उत्तर दिया- 'मेरे पास एक रुपया था जो मार्ग मे कही गिर गया, उसे ढूढने मे मुझे देर हुई। रुपया भी नही मिला और कक्षा भी गई।' कहते-कहते विद्यार्थी की ऑखो से ऑसू झरने लगे।

दूसरे विद्यार्थी से पूछने पर उसने सकपकाते हुये कहा- 'इसका जो रुपया खोया था उसे मै ही अपने पाँव के नीचे दबाकर खड़ा था। बहुत देर तक वह वहाँ से हटा नही, मैं कैसे वह रुपया उठाता और कैसे वहाँ से चलता। बस, इसी कारण मुझे देर हुई।'

घटना की दृष्टि से देखे तो दोनो विद्यार्थियो की भूमिका मे अन्तर है। एक ने कुछ खोया है, जबकि दूसरे ने कुछ पाया है। परन्तु

प्रतिफल की दृष्टि से देखा जाये तो दोनो ही दुखी हुए हैं । अपने कर्तव्य पालन मे दोनो को ही विलम्ब हुआ है । उसके लिये दोनो ही दण्ड के भागीदार बने हैं । जिसका कुछ खो गया उसे खोने की पीडा है, और जिसे कुछ मिला है उसे छिन जाने का भय त्रस्त कर रहा है । उसे प्राप्ति को अपने पैर के नीचे दबाये रखने की चिन्ता है ।

यही तो कारण है कि संसार मे सब दुखी ही है । जिसके पास कुछ नही है वह सम्पत्ति के अभाव की यातना से दुखी है । जिसके पास कुछ है वह परिग्रह के सद्भाव मे होने वाले तरह-तरह के दुखों से दुखी हो रहा है । दुखो को जन्म देने वाली आकॉक्षाए और आकुलताए सबके मन मे है, लेकिन सुख को उत्पन्न करने वाली निराकुलता, सहिष्णुता और सतोष यहाँ किसी के पास नही है । सतोष और अनाकाँक्षा के बिना सुख की कल्पना भी कैसे की जा सकती है ?

जार्ज बर्नार्ड शॉ ने लिखा है- 'हमारे जीवन मे दो दुखद घटनाएँ घटती है । पहली यह कि हमे अपनी मनचाही वस्तुए मिलती नही हैं । दूसरी यह कि वे हमे मिल जाती हैं ।'

There are two tragedies ın life.
One is not to get your heart's desıre.
The other is to get it. -George Bernard Shaw

बात खोने की हो या पाने की इससे कोई अन्तर नही पडता । दोनो ही परिस्थितियो मे मनुष्य के मन मे सक्लेश ही उपजते हैं । उन्ही सक्लेशो की पीडा उसे भोगना पडती है । वह जितना सम्पत्तिशाली होता जाता है, उसकी पीड़ा उसी अनुपात मे बढती जाती है ।

जैनाचार्य गुणभद्रस्वामी ने अपने ग्रथ मे लिखा है- ससार मे हर प्राणी के भीतर तृष्णा का इतना बडा गड्ढा है कि यदि उसमे विश्व की सारी सम्पदा डाल दी जाये, तब भी वह भरेगा नही, खाली ही रहेगा । ऐसी स्थिति मे किसे, क्या देकर सतुष्ट किया जा सकता है ? विषयो की आशा और तृष्णा सदैव उन्हे दुखी ही करती रहेगी ।

तृष्णागर्तः प्रतिप्राणी यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति, वृथा वो विषयैषिता ।

-आचार्य गुणभद्र/आत्मानुशासन

भोग-आकाँक्षाओ की तृप्ति के लिये विचारको ने तीनो लोको की सम्पत्ति को भी अपर्याप्त माना है। अन्त में संतोष रूपी अमृत का पान करने पर ही ज्ञान के आनन्द की उपलब्धि स्वीकार की गई है-

भोगन की अभिलाष हरन कौं, त्रिजग सम्पदा थोरी,

यातैं ज्ञानानन्द 'दौल' अब, पियौ पियूष कटोरी।

-दौलतराम/अध्यात्म पदावली

गीता मे भी कर्म-बन्ध से बचने का उपाय बताते हुये यही कहा गया कि- 'जो कुछ सहजता से प्राप्त हो उसमे संतुष्ट रहने वाला, हर्ष और शोक आदि द्वन्द्वो से रहित तथा ईर्ष्या से रहित ऐसा साधक जो अपने अभिप्राय की सिद्धि और असिद्धि मे समता-भाव धारण करता है, वह कर्मो को करता हुआ भी कर्म-बन्ध नही करता'-

यदृच्छालाभ संतुष्टो द्वन्द्वातीतः विमत्सर·,

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।

-गीता/4-22

वर्तमान समाज व्यवस्था मे धन-सम्पत्ति को बहुत अधिक महत्व प्राप्त हो गया है। आज का समाज-दर्शन तो यह हो गया है कि जिसके पास धन है वही कुलीन है। वही विद्वान् है और वही गुणवान है। धनवान ही कुशल वक्ता है और वही दर्शनीय, भव्य व्यक्तित्व वाला है, क्योकि सारे गुण धन के आश्रय मे ही रहते है-

यस्यास्ति वित्तं स नर कुलीन, स पण्डित स श्रुतवान् गुणज्ञ।

स एव वक्ता, स च दर्शनीय, सर्वे गुणा कांचनमाश्रियन्ते।

जहाँ धन को ऐसी सामाजिक स्वीकृति मिली हो, वहाँ उसके उपार्जन के लिये पागलपन भरी दौड अस्वाभाविक तो नही कही जा सकती।

धन से जहाँ तक हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती हो उसी हद तक वह हमारे लिये उपयोगी है। जो धन आवश्यकता की पूर्ति नही कर पा रहा हो वह निरर्थक है। इसी प्रकार आवश्यकता से अधिक धन का भी कोई उपयोग नहीं है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उतनी ही सम्पत्ति संकलित करने को उचित ठहराया है जितने से हमारे सासारिक दायित्वो का भली प्रकार से निर्वाह हो सके।

परिग्रह-परिमाण नामके पाँचवे अणुव्रत को 'इच्छा-परिमाणव्रत' कहकर जैनाचार्यो ने भी यही कहा है कि व्यक्ति को अपनी इच्छाए सीमित करके, उनकी पूर्ति के अनुरूप परिग्रह रखना चाहिये। उससे अधिक सम्पत्ति के प्रति उसे कोई व्यामोह या आकॉक्षा नही रखनी चाहिये।

सामान्य गृहस्थ के लिये सुखी जीवन बिताने का एक ही उपाय है कि वह अपनी आय के भीतर व्यय का सयोजन करके, उसी मे अपना काम चलाने का संकल्प ले। यदि आय से अधिक व्यय की आदत होगी तो नियम से जीवन मे अशान्ति और असतुलन रहेगा। आय से अधिक व्यय न हो, उसके भीतर ही जीवन यापन किया जा सके यह एक कला है। इसके माध्यम से जीवन मे आनन्द का विस्तार होता है और पूरा परिवार शान्ति का अनुभव करता है। नीतिकारो ने इसी कला को पाण्डित्य कहा है, इसी को वचन-कौशल कहा है। इतना भर नही, उन्होने गृहस्थ के लिये इसे सबसे बडा धर्म कहकर इस कला की सराहना की है-

इदमेव हि पाण्डित्यं, इयमेव विदग्धता,
अयमेव परोधर्म. यदायान्नाधिको व्यय ।

-नीतिवाक्यामृत/108

रहीम ने भी अपने खुदा से यही याचना तो की थी कि- 'जितने मे मेरे परिवार का पेट भर जाये, अतिथि का सत्कार कर सकूँ और मुझे भी भूखा नही सोना पडे, ओ खुदा ! बस, मेरे लिये इतना ही पर्याप्त है। यही मेरी आरजू है'-

सांई इतना दीजिये, जामें कुटुंब समाय,
मैं भी भूखा न रहूं, साधु न भूखा जाय -रहीम

जिस व्यक्ति के जीवन मे इतना घटित हो जाये वह निर्भीक होकर सम्मान-पूर्ण जीवन जी सकता है। कबीर ने कहा- 'वाँच्छा समाप्त होते ही सारी चिन्ताए नष्ट हो गईं। मन निश्चिन्त हो गया। ठीक ही तो है, जिन्हे किसी से कुछ नही चाहिये वे तो शाहो के भी शाह हैं'-

चाह गई, चिन्ता मिटी, मनुवा बे-परवाह,
जिनकौं कछू न चाहिये, सो साहन पति साह। -कबीर

परिग्रह की लालसा पर अकुश लगाने का एक मात्र उपाय है सतोष। जब तक हम अपनी इच्छाओ और आवश्यकताओ की सीमा

निर्धारित नही करेगे, और जब तक हम प्राप्त सामग्री मे संतुष्ट और सुखी रहने की कला नही सीख लेंगे, तब तक तृष्णा की दाहक ज्वालाओं मे हमे जलना ही होगा । परिग्रह से मोह बढेगा और उससे तृष्णा की ज्वालाये और ऊँची होती जायेगी । एक पद की दो पक्तियाँ है -

रे मन कर सदा संतोष

जातें मिटत सब दुख-दोष ।

बढ़ें परिग्रह मोह बाढ़त, अधिक तिसना होत,

बहुत ईंधन जरत जैसें, अगिनि ऊंची जोत ।

-महाकवि दौलतराम/अध्यात्म पदावली

ऋषियो के उपदेशो पर चलकर मनुष्य तम से प्रकाश की ओर बढा हो या नही, उसने मृत्यु से अमरत्व की ओर पग बढाये हो या नही, परन्तु अपनी परिग्रह-प्रियता से प्रेरित वह भौतिकता के क्षेत्र मे उपलब्ध से अनुपलब्ध की ओर निरतर बडी तेजी से दौड रहा है । विचार करना चाहिये हमे कि हमारी इस लक्ष्यहीन और थकाने-भरमाने वाली दौड का अत कब होगा ? कहाॅ होगा ? और कैसे होगा ?

परिग्रह की सामर्थ्य असीम नहीं है ।

दो हजार वर्ष पूर्व जैनाचार्य समन्तभद्र स्वामी ने धन के सचय को निरर्थक बताते हुये कहा था- 'यदि जीवन मे पाप का निरोध हो गया तो वह निष्पाप-जीवन सबसे बडी सम्पदा है, फिर अन्य किसी सम्पदा का कोई अर्थ नही है । और यदि जीवन में पाप का आस्रव हो रहा हो, हमारा आचरण पापमय हो, तो किसी भी सम्पदा से हमारा कल्याण होने वाला नही है । पाप के साथ आने वाली सम्पत्ति हमे दुर्गति के गर्त मे ही ले जायेगी । ऐसी स्थिति मे सम्पदा से क्या प्रयोजन ?'

यदि पाप-निरोधोऽन्य सम्पदा किं प्रयोजनम् ।

यदि पापास्रवोऽस्त्यन्य सम्पदा किं प्रयोजनम् ।

-रतनकरण्ड श्रावकाचार/27

जो हमे अत्यन्त प्रिय होता है, जिस पर हम लुभा जाते हैं, उसकी वास्तविकताओ की ओर से हम दृष्टि हटा लेते हैं । उनकी बुराईयों की ओर से हम अपनी आँख मूँद लेते हैं । परिग्रह को जोडना चाहते हैं, जन्म-जन्मान्तर तक उसे साथ रखना चाहते हैं, परन्तु हम उसे पहचानना नही चाहते ।

जब कोई व्यक्ति अपनी बीमारी को बीमारी समझता है, तब उसे दूर करने के उपाय भी करता है। ऐसे व्यक्ति के निरोग हो जाने की सम्भावनाए रहती है। परन्तु यदि कोई रोगी अपनी बीमारी को ही अपना स्वास्थ्य समझने लगे तो फिर वह स्वास्थ्य-प्राप्ति के उपाय क्यो करेगा? तब उसे स्वय धन्वन्तरि भी निरोग नही कर सकेंगे। परिग्रह के विषय मे हमारी धारणा भी ऐसी ही बन गई है। बडप्पन के दम्भ की रक्षा के लिये हमने परिग्रह की परिभाषा ही बदल ली है। उसे पापो की सूची से निकाल कर हम उसे 'पुण्य का फल' मानने लगे है।

यह सब इसलिए सम्भव हो सका क्योकि परिग्रह हम सबको प्रिय लगता है। आज उसी को हमने अपने जीवन का आधार और अपनी महानताओ का मान-दण्ड मान लिया है।

जो जितना क्रूर और हिसक होगा वह समाज से उतना ही तिरस्कृत होगा। झूठ बोलने और चोरी करने की जिसमे आदत होगी उसे भी हम अपने से दूर ही रखेगे। कुशील जिसके जीवन मे होगा वह अवश्य निन्दा का पात्र बनेगा। परन्तु परिग्रह के बारे मे हमारे नियम बिलकुल अलग हैं। जिसने जितना अधिक जोड रखा होगा उसे उतना ही ऊँचा आसन हमारे बीच मिलेगा। उसके गले में उतनी ही मोटी माला हम पहनायेगे।

हमारी लोलुपता ने कुछ ऐसा वातावरण बना दिया है कि पॉच पाप अब सिर्फ शास्त्रो मे लिखे रह गये हैं, व्यवहार मे वे चार ही बचे है। परिग्रह हमारी मान्यता मे पाप रहा ही नही। वह तो अब पुण्य का फल है। वह जितना बढता जाता है, उसे धारण करने वाला उतना ही बडा पुण्यात्मा कहलाने का अधिकारी हो जाता है।

यदि अपने हस्तिनापुर को निष्पाप बनाना है, यदि पापो का एक अश भी छोडना है, तो परिग्रह के बारे मे हमे अपने समीकरण बदलने होंगे। परिग्रह के दश को पहचानना होगा। परिग्रह-प्रियता से प्राप्त होने वाली मानसिक व्याधियों को दृष्टि मे रखना होगा और परिग्रह की सीमाओ को समझना होगा।

कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि यदि उनके पास पर्याप्त धन है तो वे उसके द्वारा सब कुछ खरीद सकते हैं। उनका सोच कई बार सही भी दिखाई देता है, क्योंकि हम अनुभव करते हैं कि सचमुच आज पैसे

के द्वारा सब कुछ तो उपलब्ध है। आदमी का तन और मन, उसका दीन और ईमान सब कुछ किसी जिस की तरह रोज बेचा और खरीदा जा रहा है। परन्तु वास्तविकता ऐसी नही है। अभी बहुत कुछ ऐसा है जो पैसे से नही खरीदा जा सकता। उदाहरण के लिये-

हम धन से वस्तुए खरीद सकते है, तृप्ति नही खरीद सकते।

ससार की सारी सम्पदा के बदले भी सतोष नही खरीदा जा सकता।

भोजन खरीदा जा सकता है, किन्तु भूख नही खरीदी जा सकती।

औषधियॉ खरीद सकते हैं, स्वास्थ्य नही खरीदा जा सकता।

हर्ष और खुशियाँ शायद खरीदी भी जा सकती हैं, परन्तु सम्पदा के बदले आनन्द नही खरीदा जा सकता।

परिग्रह की ये कुछ सीमाए यदि दृष्टि मे रहें तो हमे उसकी तुच्छता का बोध हो सकता है। जोडने और जोडते ही चले जाने की धुन कभी किसी को सुखी नही बना पाई। परिग्रह ने जब दी है तब प्यास ही दी है, तृप्ति देने की सामर्थ्य उसमे नही है। परिग्रह की वॉच्छा आकुलताओ को जन्म दे सकती है, परन्तु अनाकुलता से उसका कोई सम्बन्ध नही है। परिग्रह की लालसा व्यक्ति को दौडाती बहुत है, परन्तु वह पहुँचाती कहीं नही। यही परिग्रह की यथार्थता है।

मूर्च्छा छोड़नी होगी

परिग्रह हमारे दुखो का वास्तविक कारण नही है। दुखो का वास्तविक कारण तो हमारे मन मे पलने वाली आकॉक्षाए है। मन की आशा और तृष्णा से दुखो की फसल तैयार होती है। आकुलताओं के अम्बार लग जाते है। इसलिये अपनी पीडा कम करने के लिये परिग्रह छोडने से पहले परिग्रह के प्रति अपने मन की मूर्च्छा छोडनी होगी। यदि इच्छाए सीमित हो जाये तो आकुलताओ की भी सीमा बॅध जायेगी। आकॉक्षाएं ही जीवन की सरिता में पाप का प्रदूषण फैलाती है। यदि उन पर अकुश लगाया जा सके तो इस धारा मे निर्मलता आ सकती है।

परिग्रह की आसक्ति छोडे बिना जो लोग परिग्रह छोड बैठते है, उनके सक्लेश घटते नही हैं, और-और बढते जाते हैं। ऐसे लोगों के लिये किसी कवि ने ठीक ही कहा है -

गेह तज्या तो क्या तज्या, राग तज्या नहिं वीर,

सांप तजै ज्यो केंचुली, विष नहिं तजत शरीर।

क्या परिग्रह पुण्य का फल है ?

पुण्य कर्म और पुण्य के फल को लेकर बहुत भ्रान्तियाँ पाली गई है। कर्मो को शुभ और अशुभ में, अथवा पुण्य और पाप मे बॉटकर कहा गया है, परन्तु धन-सम्पदा दिलाने वाला कोई कर्म या प्रारब्ध कही नही कहा गया। अच्छे सयोगो से, और अनुकूल पुरुषार्थ से, सम्पत्ति प्राप्त होती है, बनी रहती है, और उसमें वृद्धि होती रहती है। विपरीत सयोगो और प्रतिकूल पुरुषार्थ से, सम्पत्ति अस्थिर हो जाती है, क्षीण होने लगती है और नष्ट हो जाती है। इसका पुण्य से कोई सीधा सम्बन्ध नही है।

धन-सम्पदा की प्राप्ति बहुत लोग पाप के मार्ग से भी करते हैं। आज समाज मे अनैतिकता के जो अतिरेक जगह-जगह दिखाई दे रहे हैं, वे अधिकतर अनैतिक कमाई के ही परिणाम हैं। जुआ, व्यभिचार, लूट-खसोट, डाकेजनी, राष्ट्रद्रोह, स्मगलिग आदि पाप कार्यो से अर्जित सम्पत्ति को पुण्य का फल कैसे कहा जा सकता है ?

पुण्य और पाप की परिभाषा को जन-जमीन और धन-सम्पत्ति के साथ जोडने पर और भी कई तरह की विसगतियाँ सामने आयेगी। तब लक्ष्मीपति अधिक पुण्यात्मा सिद्ध होंगे और त्यागी-सन्यासी उनसे कम पुण्यात्मा ठहरेंगे, क्योंकि उनके पास कोई सासारिक सम्पत्ति नही होती।

जिसे पुण्य कहा गया है उसका फल पदार्थो का सयोग-वियोग नही है। पाप का फल भी पदार्थ का, या प्राणियो का मिलना-बिछुडना नही है। पाप और पुण्य की सही परिभाषा यही है कि पुण्य के उदय मे हम सुखी और सतुष्ट होते हैं। पुण्य प्रसन्नता और आनन्द का अनुभव कराता है। इसके विपरीत, पाप के उदय मे हम असतुष्ट और दुखी रहते है। पाप चिन्ता, आकुलता, विषाद और मनहूसी का अनुभव कराता है।

पुण्य-पाप का गणित बहुत सरल है। सबके लिये शुभ का चिन्तन करने से, शुभ कार्य करने से, और अपने जीवन को निष्पाप तथा पवित्र रखने से पुण्य की प्राप्ति होती है। आगे चलकर उसका अच्छा फल मिलता है। दूसरों का अशुभ चिन्तन करने से, अशुभ कार्य करने से, और अपने जीवन को उच्छृखल तथा अपवित्र बनाने से

पाप की प्राप्ति होती है । जब उसका परिपाक होता है तब उस पाप का वैसा ही दुखद फल हमे भोगना पडता है ।

कौन उगाता है पुण्य की फसल ?

सबसे विचित्र बात यह है कि इतना सब जानते हुए भी जगत के सारे जीव पुण्य की फसल प्राप्त तो करना चाहते हैं, परन्तु पुण्य के बीज बोना कोई नही चाहता । कथनी मे हम चाहे रोज दोहराते रहे परन्तु करनी के समय यह भूल जाते हैं कि- 'जो जैसा बोयेगा उसे वैसी ही फसल काटना भी होगी ।'

हर जन्म में हम पाप के बीज बोते रहे, और उसके फल स्वरूप हर जन्म मे दुखो, सक्लेशो और विपत्तियों की फसल काटते रहे । यह जिन ग्रामो की सनातन परम्परा है, उन ग्रामो का नाम है - 'हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ।'

शान्तिकामी श्रीकृष्ण के प्रस्ताव पर विचार करके यदि हम इन पॉच पाप-ग्रामो को त्याग सके तो पच-अणुव्रत की उस पवित्र भूमि का स्वामित्व हमे प्राप्त हो सकता है, जहॉ पुण्य की फसल बोने तथा साता, सतोष और आनन्दानुभूति की फसल काटने की परम्परा है । यही वह भूमि है जिस पर खडे होकर हम अपनी आत्मा के अधिक निकट होते हैं । वही पर अपने ईश्वर की कृपा प्राप्त कर लेते हैं ।

कल्पनाओं का फैलाव ही परिग्रह है

परिग्रह का अर्थ है अपने आपको बाहर की ओर फैलाना । अपने को पर से जोडना । जहाँ मै नही हूँ वहॉ अपने होने की कल्पना करना । जो मेरा नही है उसमे मेरे-तेरे की कल्पना करना । अपने को पर के साथ जोडते जाना ही परिग्रह है । फैलाना अच्छा लगता है हमे । व्यापारी अपनी दुकान फैलाता है । विस्तृत विज्ञापनों के जरिये जहाँ नही है वहाँ पहुॅचना चाहता है । कलाकार अपनी कला का विस्तार करता है । वक्ता अपनी बात को विस्तार देता हुआ फैलाता है । मित्र और शत्रु बनाकर जीव अपने राग-द्वेष को फैलाता रहता है । सचमुच फैलाना एक कला है, परन्तु सत कहते है - समेटना उससे भी बड़ी कला है ।

हर फैलाव का अतिम लक्ष्य समेटना ही होता है । फैलाने में श्रम है, विकल्प है, तर्क-वितर्क हैं । समेटने में कोई ऊहापोह नहीं है । वहाँ कोई आशका नही है । फैलाने का पुरस्कार समेटने में ही निहित है ।

व्यापारी दुकान का फैलाव समेटे बिना रात्रि में सो नही सकता। बाहर से अपने मे लौटे बिना चैन नही पा सकता। कलाकार अपने विस्तार के केन्द्र मे अपने कथ्य को रेखाकित करके ही सतुष्ट हो पाता है। उसकी सार्थकता परिकर के बिखराव मे नही, अभिप्राय के केन्द्र मे है। सारे विस्तार को समेट कर मूल विषय पर समापन करना वक्ता की सार्थकता है।

मैने भी असख्य पदार्थो से राग करके अपने आपको बहुत फैलाया है। अतीत के कितने राग-द्वेष मेरे मन मे पल रहे है, पनप रहे है। वर्तमान मे तो मेरी आकॉक्षाओ की कोई सीमा ही नही है, जगत की सारी सम्पदा को अपने लिये सुरक्षित पाकर भी मै सतुष्ट नही हूॅ। और भविष्य के लिये इतने सकल्प-विकल्प मेरे पास हैं कि उन सबकी कल्पना करने के लिये मेरा यह जनम छोटा पड जायेगा। रैन बीत जायेगी पर सपना पूरा नही हो सकेगा। कामनाओ का यह अनन्त विस्तार ही वास्तविक परिग्रह है। जीवन मे निराशा और अशान्ति की ज्वाला इसी विस्तार से सुलगती है। मेरे सारे क्लेश यही से उत्पन्न हो रहे है।

असीम आकॉक्षाओ के वशीभूत होकर, कामनाओ की महाज्वाला मे झुलसते हुए मैंने अपना विशद ससार बसाया। परन्तु वह मन को सुख का तनिक सा भी सवेदन नही दे पाया। उल्टे उसके सरक्षण की आकुलता तथा और अधिक पाने की लालसा, मेरे मन को निरन्तर दाह ही देती रही। क्या सम्पदा के साथ सतोष का कोई रिश्ता है ? क्या ऐश्वर्य के साथ अनाकुलता का दूर का भी कोई सम्बध है ? नही।

अप्राप्त को पाने की लालसा बहुत दुखद है, परन्तु मनचाहा प्राप्त कर लेने पर उसे बनाये रखने की चिन्ता, उससे भी अधिक दुखद है। उसकी दाह तो अनन्त है। यही दाह ससार का सबसे बडा दुख है। छोटा और बडा, मूरख और विद्वान, निर्धन और धनी, सभी इसी पीडा से पीडित हैं। इसी दाह मे दग्ध हो रहे हैं।

क्लेश उत्पन्न करने वाली अनन्त आकॉक्षाए सबके मन मे हैं, परन्तु निराकुलता और सुख-शान्ति को उत्पन्न करने वाला सतोष यहॉ किसी के पास नही है। अनासक्ति और सतोष के बिना सुख की कल्पना ही व्यर्थ है। अपनी कल्पनाओ को समेटे बिना यह नही होगा। जो ठान लेते हैं उनके लिये अपने आपको समेटना सहज हो जाता है आशका और चिन्ता तो फैलाते समय होती है, समेटने मे

क्या आशका, कैसी चिन्ता । फैलाव एक यात्रा है बाहर की ओर । समेटना अपने भीतर की ओर लौटने का सफर है ।

जाड़े की सुबह कछुआ नदी किनारे धूप मे आ जाता है । चारो तरफ सतर्कता से टटोल-टटोल कर वह अपने हाथ पैर और सिर बाहर निकालता है, पग-पग पर आशकित और क्षण-क्षण सावधान । फिर अकस्मात कही कोई आहट होती है और वह अविलम्ब अपने आपको अपने खोल के भीतर समेट लेता है । इस समेटने मे कोई आशका नही, कोई भय नही । किसी सतर्कता, किसी सावधानी की आवश्यकता नही । अपने भीतर लौटने मे कैसा भय, किसकी आशका । वह तो मेरा अपना जाना-पहचाना घर है । वही तो मेरा चिरतन आश्रय है ।

अभी समय है कि अपने को समेटा जा सकता है । इस सारे फैलाव मे से अपने आपको सुरक्षित निकाला जा सकता है । फैलाव मे सबको आकुलताए ही मिली हैं । उसमे सुख-साता और सतोष किसी को नही मिला । त्रिशलानन्दन ने भीतर-बाहर से अपने आपको पूरी तरह रिक्त कर लिया तभी महावीर बन पाये । इस समेटने की कला मे जो पारगत होते है वे ही मानवता को मार्ग दिखाते है । वे ही महापुरुष है ।

यह सुख-दुख मे सक्लेशित होते रहना मेरा स्वभाव नही है । सुख-दुख दोनो मानसिक रोग है । यदि किसी प्रकार अपना सही ऐश्वर्यशाली स्वरूप मै पहिचान सकूँ, अपने भीतर रोग की तरह उपजते हुए विकारो को जान सकूँ, और इस विश्व की व्यवस्था को समझ सकूँ तो विकारो और वासनाओ मे से अपने आपको समेटना आसान हो जायेगा ।

कुरुक्षेत्र के मैदान मे अर्जुन को जिस मोह-निद्रा से जगाने का उपाय गीता-गायक ने किया था, अविद्या ही वह मोह-निद्रा थी । उसका मूल-कारण दृश्य का विकास नही, दृष्टि का अभाव था । यही दृष्टि-हीनता 'मिथ्यात्व' है । स्व-पर विज्ञान का प्रकाश फैलते ही अविद्या का अधकार अवश्य हटेगा । यह विज्ञान प्राप्त करने के लिये सतों ने सबसे पहले माया पर आघात किया । जीव को प्रलोभित करके विकारी बनाने वाली माया ही है । माया के कोहरे में बडे-बडे साधक भटक जाते हैं । अपने आपको पहचानने के लिये माया को पहचानना बहुत आवश्यक है ।

विराट् का दर्शन

माया महाठगिनि हम जानी

सतो ने बार-बार प्रयास करके हमे इस विश्व की व्यवस्था समझाने की चेष्ठा की है। अपने अनुभव से जाने हुये उसके रहस्य हमे उपलब्ध कराये हैं। इस बात पर प्राय सभी सत एक मत हैं कि ससार मायामय है और यह माया ही जीव को चार गतियो की चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण कराती है। इसी माया को अविद्या भी कहा गया है। अविद्या के नाश होने पर ही जीव की मुक्ति मानी गई है।

माया के स्वरूप को लेकर दर्शनशास्त्रो मे अनेक व्याख्याये की गई है। कही उसे स्वप्नवत्, एक भ्रम-मात्र कहा गया है, जिसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। कही उसे प्रकृति की लीला के रूप मे व्याख्यापित किया गया है। माया को कही परब्रह्म परमात्मा का ही विलास कहा गया है। प्राय इन सभी व्याख्याकारो ने माया से निर्मित इस विश्व को ईश्वर के उपादान मे, ईश्वर की इच्छा से, ईश्वर के ही द्वारा निर्मित बताया है।

जैनाचार्यों ने विश्व को नित्य, परिवर्तनशील और उत्पन्न-ध्वसी स्वभाव वाला माना है। दो द्रव्यो के सहयोग से स्वत निर्मित यह सृष्टि जीव और पुद्गल की अनादि सरचना है। जड-चेतन से रचित यह ससार, चेतन और अचेतन द्रव्यो की मिली-जुली परिणति है। अपनी अशुचि के कारण चेतन-स्वभाव वाला जीव इस जड-स्वभाव वाले पुद्गल के साथ मिलकर अनेक असमान-जातीय रूपाकार ग्रहण करता है। इन दोनो से इस चर और अचर लोक की रचना होती हैं।

अपनी अशुद्धि के कारण पुद्गल-द्रव्य जीव के प्रारब्ध के अनुसार उसके स्थूल-शरीर तथा कारण शरीर आदि रूपो मे ढल जाता है। संचित कर्म के रूप मे वही सूक्ष्म शरीर आदि का रूप धारण करके जीवो के ससार परिभ्रमण मे कारण बनाता है। मोह-माया के वशीभूत, अनादिकाल से विकारी बना यह जीव, उन बंधनो

मे बँध जाता है। जैनाचार्य संसार को इसी प्रकार चेतन और अचेतन द्रव्यो की विकारजन्य परिणति स्वीकार करते हैं। उसके निर्माण या सचालन के लिये किसी ईश्वरीय शक्ति को उन्होंने स्वीकार नही किया।

सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने किया है, या वह अनादिकाल से स्वत निर्मित है, और जड-चेतन तत्वो के सहज परिणमन से चल रही है, इस विषय पर बहुत दार्शनिक ऊहा-पोह हुई है। इस उलझन को सुलझाने के लिये बडे-बडे शास्त्रार्थ हुये, बडे-बडे ग्रथो की रचना हुई। इस सिद्धान्त के खण्डन और मण्डन का सिलसिला शायद सृष्टि के प्रारम्भ से ही चल रहा है। कम से कम निकट भविष्य मे उसका कोई सर्वमान्य समाधान निकल सकेगा ऐसी भी आशा नही करनी चाहिये।

इस सबध मे गोस्वामी तुलसीदासजी का कथन सार्थक लगता है कि जड और चेतन के बीच में एक गॉठ लग गई है। यद्यपि यह गॉठ अवास्तविक है, भ्रमरूप है, फिर भी उसका खुलना आसान नही है। बडी कठिनाई से अनेक प्रयत्नो से ही सम्भव है-

जड़-चेतनहिं ग्रन्थि परि गई
जदपि मृषा, छूटत कठिनई। -रामचरितमानस, उ का /117

हमारे हानि-लाभ

सृष्टि के कर्तव्य का निराकरण करने का यहाँ हमारा कोई सकल्प नही है। हम इस ऊहा-पोह पर मात्र इस दृष्टि से विचार करेंगे कि यदि ऐसा माना जाये कि- 'सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने किया है' तो हमे क्या लाभ-हानि होगी ? इसी प्रकार यदि माना जाये कि 'मायामयी यह ससार छह द्रव्यो के अथवा पचमहाभूतो के सहज सयोग से, प्राकृत रूप से, स्वत निर्मित और स्वत सचालित है' तो इस मान्यता से हमारे हानि-लाभ क्या होंगे ?

यह बात गम्भीरता पूर्वक ध्यान देने योग्य है कि यह सृष्टि वास्तविक हो या स्वप्नवत् अवास्तविक हो, इसे ईश्वर ने इच्छा और संकल्पपूर्वक रचा हो या यह एक अनादि-अनन्त प्राकृत संरचना हो, दोनो ही स्थितियो मे इससे जीव को, यानी हमे, अकारण कोई हानि-लाभ नहीं होता। जिन्होंने संसार को दुख रूप कहा है उन्होंने भी जीव के लिये इस ससार मे अकारण किसी दुख का विधान नहीं किया।

वन मे जिस प्रकार शिकारी अपने जाल फैला देते हैं और भोले पशु-पक्षी उसमे फॅसकर भूख-प्यास आदि की पीडाए सहते हुए अपने जीवन का अन्त कर लेते हैं, उसी प्रकार यह मायामयी ससार किसी ने बना सजाकर रखा हो ताकि भोले प्राणी अकारण इसमे फँसते रहे और जन्म-मरण के दुख उठाते रहे, किसी भी दर्शनशास्त्र मे ससार का ऐसा स्वरूप निरूपित नही किया गया। अत यह बात तो स्पष्टत सिद्ध है कि ससार जैसा भी है, और जिसने भी इसे बनाया है, वह हमे क्लेश और पीडा देने के लिये न तो स्वत बना है और न ही उस अभिप्राय से किसी ने उसकी रचना की है। तब फिर यह समझना तो शेष रह ही गया कि ससार मे आज जो स्थिति हो रही है, हम जो कष्ट और क्लेश भोग रहे है, उसका उत्तरदायी कौन है ?

एक प्रश्न यह भी उठता है कि यदि ससार माया से निर्मित और पूरी तरह अवास्तविक ही है, और उसी माया के कारण जीव इसमे जन्म-मरण के दुख उठाते हुये भटक रहे है तो क्या इससे निकलने का कोई भी उपाय जीव के हाथ मे है ? यदि कोई उपाय है तो वह क्या है? कैसे हम इस दुखद ससार-चक्र से बाहर निकल सकते है ?

दुनिया एक अजायबघर है

हम इस ससार की तुलना किसी बडे म्यूजियम से, किसी बडे अजायबघर से कर सकते है। अजायबघर मे रखी विचित्र वस्तुओ की तरह ससार की हर वस्तु अपने आप मे विचित्र है। यहा छोटी से छोटी सरचना के भीतर प्रकृति के बडे-बडे रहस्य छिपे हुए हैं। इस सृष्टि मे निरतर उत्पत्ति और विनाश का चक्र चल रहा है परन्तु इस चक्र की गति ऐसी लयबद्ध है, ऐसी सतुलित है कि अनवरत् उपजता और विनशता हुआ भी यह ससार शास्वत् बना रहता है। संग्रहालय की तरह वह अपने ही नियमों से सचालित होता है। हमारे जैसे अनगिनते दर्शक निरन्तर उसकी विचित्रताओ का आनन्द लेते रहते है। सग्रहालय मे घूमना, वहॉ रखी हुई वस्तुओ को देखना और उनकी विशेषताओ की चर्चा करके आनन्दित होना अपराध नही है। रोज लाखो लोग दर्शक बनकर सग्रहालय मे जाते हैं परन्तु उनमे किसी को इसके लिये दण्डित नही किया जाता। उसके कारण किसी भी दर्शक को दुख और क्लेश नही भोगना पडता।

यह बात अवश्य है कि कोई दर्शक स्वय अपनी सीमाओ का उल्लघन करने लगे, सग्रहालय के नियमो की अवहेलना करके वहा अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करना चाहे, तो उसे निराशा, दुख क्लेश और दण्ड भोगना पड सकता है । जो चाहेगा कि सग्रहालय उसकी सुविधा के अनुसार समय से पूर्व खुल जाये, या समय के बाद तक खुला रहे, या अवकाश के दिन खुल जाये, तो समान्यत ऐसा होगा नही और चाहने वाले को निराश होना पडेगा । कोई चाहे कि जो वस्तु उसे प्रिय लगती है वह केवल उसी के लिये आरक्षित हो, दूसरे दर्शको को उसका दर्शन वर्जित कर दिया जाये, तो सामान्यत ऐसा होगा नही और चाहने वाले को क्लेश और पीडा का अनुभव करना पडेगा ।

सग्रहालय मे प्रदर्शित वस्तुए एक निश्चित योजना के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं । सरक्षण और सुरक्षा की दृष्टि से भी उन्हे स्थानान्तरित करने की आवश्यकता पडती है । अब कोई चाहे कि जिस वस्तु को उसने जहॉ, जिस स्थिति मे देखा है और पसन्द किया है, वह वस्तु वही, उसी स्थिति मे, जब तक वह चाहे तब तक रखी रहे, तो सामान्यत ऐसा होगा नही । वस्तुओ का प्रदर्शन सग्रहालय की योजना के अनुसार ही होगा और दर्शक को अपनी अपूर्ण इच्छा के लिये सक्लेशित होना पडेगा ।

इसी प्रकार यदि कोई पागल दर्शक ऐसा समझ बैठे कि उसने टिकिट लेकर सग्रहालय मे प्रवेश किया है इसलिये वहाँ प्रदर्शित वस्तुओ पर उसका अधिकार हो गया है, वही उनका स्वामी है, ऐसी भ्रमित धारणा बनाकर यदि वह सग्रहालय की किसी वस्तु को उठावे, उसे तोडने-फोड़ने की कोशिश करे, या उसे घर लाना चाहे तो सामान्यत ऐसा होने नहीं दिया जायेगा । ऐसे दर्शक के आचरण को अपराध माना जायेगा और उसके लिये उसे दण्ड का भागीदार बनना पडेगा ।

देखना निरापद : छूना अपराध

इस ससार की स्थिति भी सग्रहालय जैसी ही है । चाहे इसे ईश्वर ने सुरुचिपूर्वक बनाया हो और वही उसका सचालन करता हो, चाहे वह स्वत स्वभाव से निर्मित हो और स्वत. सचालित हो रहा हो, परन्तु यह जैसा भी है अपनी जगह बहुत खूब है । इसके रहस्य हमारी

जिज्ञासाओ को उत्तेजित करते हैं। इसकी विचित्रताए हमे आनन्दित करती हैं या कर सकती हैं, परन्तु यह तभी सम्भव है जब हम एक ईमानदार दर्शक की तरह, दूर से ही उसके बारे मे विचारते रहे या उन्हे देख-देखकर आनन्दित होते रहे।

अपनी सीमा लाँघकर यदि हम इस विश्व को अपनी इच्छानुसार सचालित करने का सकल्प करे, इसकी संरचना में विसगतियाँ पैदा करने की कोशिश करे, इसके पदार्थो मे से किसी को प्रिय मानकर अपने समीप रखना चाहे, और किसी को अप्रिय मानकर दूर फेकने की चेष्टा करे, तो निश्चित ही इस विश्व की व्यवस्था मे वह हमारी अनधिकार चेष्टा होगी। अवश्य ही इसके लिये हमे विफलता भोगना होगी और दण्डित भी होना पडेगा।

विश्व बहुत विशाल है। वह क्षितिज और समय की सीमा के परे तक फैला हुआ है। हम भी किसी से कम नही है। इस जनम और मरण के पूर्व और पश्चात् भी हमारा ऐसा दीर्घ अस्तित्व है जो काल की किसी भी सीमा को स्वीकार नही करता। तब ऐसी हालत मे यही होगा कि हम अपने राग-द्वेष और मोह के नशे मे होश-हवास खोकर, सग्रहालय के किसी पागल दर्शक की तरह, सृष्टि के साथ छेडखानी करते रहेगे। इसके फलस्वरूप हमारा वर्तमान दुख और क्लेश से पीडित रहेगा और हमारा भविष्य अपने ही द्वारा किये गये उन अपराधो के दण्ड भोगने मे व्यतीत होता रहेगा। इस अनादि-अनन्त ससार मे अनादिकाल से हमारे साथ यही तो हो रहा है।

क्रिया और प्रतिक्रिया

जिन दार्शनिक पद्धतियो मे माया को ही जीव के लिये बधन की सज्ञा दी गई है, या उसका कारण कहा गया है, उनके यहाँ भी वास्तविक व्याख्या लगभग ऐसी ही है जैसे ऊपर सग्रहालय के उदाहरण से हमने समझी है। उन्होने भी भक्ति की भाषा मे भले ही कहा हो कि इस सृष्टि का चलाने वाला तथा जीव के लिये सुख-दुख का विधान करने वाला ईश्वर है, परन्तु दार्शनिक विश्लेषण में सर्वत्र विश्व की व्यवस्था को स्वतंत्र, स्वाभाविक या प्राकृतिक ही स्वीकार किया गया है। जड तथा चेतन दोनो सक्रिय पदार्थ है। 'क्रिया' जब होती है तब उसकी 'प्रतिक्रिया' भी होती है, यह विज्ञान का अटल

नियम है। सारे दर्शन-शास्त्रो मे इस नियम को स्वीकार किया गया है। विश्व-व्यवस्था मे सर्वत्र यह माना गया है कि हर प्राणी को अपने किये हुए कर्मों का फल भोगना पडता है।

क्या ईश्वर सुख-दुख का दाता है ?

हमारे पास मूल रूप से तीन शक्तियाँ हैं- मन, वाणी और शरीर। हम अपना और दूसरो का जो भी भला या बुरा करना चाहते हैं, वह इन्हीं तीन शक्तियो के माध्यम से करते हैं। पिछले जीवन से सचित करके लाई हुई वासनाए हमारे मन, वाणी और शरीर की क्रिया को प्रभावित करती है। इन्ही कारणो से हमारे भीतर राजसी, तामसी और सात्विक प्रवृत्तियो का उदय होता है। इस वासना-प्रेरित प्रवृत्ति को ही 'त्रिगुणात्मिका-प्रकृति' कहा गया है।

जन्म-जन्मान्तरो से, हमारा स्वय का अर्जित किया हुआ जो कर्म हमारे साथ लगा है उसे 'सचित-कर्म' कहा गया है। इस सचित कर्म में से जितना उदय मे आकर वर्तमान मे हमे अपना फल देने वाला है वह 'प्रारब्ध' कहा गया है। अपने मन, वाणी और शरीर की क्रियाओ के फलस्वरूप निरन्तर हम जो नवीन कर्म बॉध रहे है वह 'क्रियमाण' कहलाता है। वह पूर्व सचित कर्म में जुडता जाता है।

इस प्रकार कर्म या प्रारब्ध के उदय से प्रेरित हुआ जीव रजोगुण, तमोगुण ओर सत्वगुण वाली तीन प्रकार की प्रवृत्तियो मे लगा हुआ अपनी पूर्वोपार्जित वासनाओ को भोगता रहता है। अपनी मन-वाणी और कर्म की इन प्रवृत्तियो मे, अविद्या के सस्कार-वश जीव को राग और द्वेष होते रहते हैं। कुछ प्रवृत्तियाँ जीव को प्रिय लगती हैं, कुछ अप्रिय लगती है। प्रिय को वह बार-बार दोहराता है और बहुत समय तक करता रहना चाहता है। अप्रिय कर्म से वह बचना चाहता है। कभी मजबूरी मे करना भी पडे तो वह आगे उससे बचने का उपाय करता है। अपने क्रियमाण मे इसी प्रिय-अप्रिय की भावना से, इन्हीं राग-द्वेष के कारणो से, उसे नवीन कर्मों का बँध होता रहता है। ये निरन्तर बँधने वाले कर्म जीव की सचित राशि में वृद्धि करते रहते हैं। इसके 'सचित' का भार बढाते रहते हैं।

साराश यह कि जीव को अपने ही कमाये हुये कर्मों का फल भोगना पड़ता है। कर्मफल भोगते हुए, राग-द्वेष परिणति के कारण वह

नवीन कर्म अपने साथ बॉधता चलता है। ये कर्म प्रारब्ध बनकर निरन्तर उसके उदय मे आते रहते है। उदय को भोगते समय होने वाले तात्कालिक राग-द्वेष उसके लिये पुन कर्म-बध का कारण बनते हैं। अनादि से यही क्रम चल रहा है। जीव स्वय अपनी करनी का फल भोग रहा है। कोई करे और किसी अन्य को उसका फल भोगना पडे, ऐसा कभी नही होता। न लौकिक मे, न परमार्थ मे।

इसी तरह पाप का कार्य करने वाले को पुण्य का फल दे सके, और पुण्य का कार्य करने वाले को पाप का फल दे सके ऐसा ईश्वर नही होता, हो ही नही सकता। जो जैसा करेगा उसे वैसा ही फल स्वय प्राप्त होगा। उसे वह भोगना ही पडेगा। यही सृष्टि का स्वत-सिद्ध, सहज, स्वाभाविक नियम है। यह क्रिया और प्रतिक्रिया के निश्चित नियम पर आधारित एक वैज्ञानिक व्यवस्था है, इसमे अपवाद नही होते -

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'

जैसी करनी वैसी भरनी

रामचरित मानस मे एक प्रसग आता है। वनवासी राम चित्रकूट पहुँचे हैं। भरत उन्हे मनाने और वापस अयोध्या ले जाने के अभिप्राय से उनके पास आ रहे है। भरत को सेना एव सेवको के साथ आते देखकर अनेक जनो के मन मे अनेक प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। कोई उनकी नीयत पर सदेह करता है। कोई कुपित होकर उनका सामना करने को कमर कसने लगता है। लक्ष्मणजी भी एक क्षण के लिये विचलित हो उठते है। यहाँ तक तो ठीक, परन्तु देवराज इन्द्र भी भरत के आगमन को लेकर चिन्तित हो उठते हैं। वे सोचते हैं राम तो जग का कल्याण करने निकले है, पर यदि भरत के स्नेह मे ये वापस लौट पडे तो अन्याय का उन्मूलन करके न्याय की स्थापना का यह महान् कार्य फिर नही हो पायेगा।

इन्द्र अपने गुरु बृहस्पति से प्रार्थना करते हैं- 'नाथ' कुछ ऐसा कर दीजिये जिससे राम और भरत की भेट ही न हो पावे। राम बहुत सकोची हैं। वे प्रेम के वशीभूत हो जाते हैं। भरत तो प्रेम के सागर ही हैं। दोनो का मिलाप हो गया तो श्रीराम कभी भरत का आग्रह टाल नही सकेगे। वे अयोध्या लौटने की स्वीकृति दे देंगे और हमारी बनती

बनी बात बेगरन चहति, करिअ जतनु छलु सोधि ।

और सुरेन्द्र की इस प्रार्थना पर देवताओ के गुरु बृहस्पति ने मात्र भगवान राम का स्वरूप बताकर देवराज की शका का समाधान कर दिया-

-'भगवान तो समता भाव वाले हैं । उनमे न तो राग है, न द्वेष है । वे न किसी का पुण्य छीनते हैं, न किसी का पाप ग्रहण करते हैं । न किसी के गुणो से उन्हे तात्पर्य है, न दोषो से ।'

जद्यपि सम, नहिं राग न रोषू,
गहहिं न पाप पुन्न गुन दोषू ।

शायद यही किसी ने सुरगुरु से पूछ लिया होगा कि - 'यदि भगवान का स्वरूप ऐसा राग-द्वेष रहित है तो फिर यह सृष्टि कैसे चलती है ? जीवो को सुख-दुख का देने वाला कौन है'? इन्ही जिज्ञासाओ का समाधान सुरगुरू ने अगली पक्ति मे किया- 'यह विश्व कर्म-प्रधान है । यहॉ का नियम यही है कि 'जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही उसका फल भोगना पडता है । यही सृष्टि का रहस्य है । '-

करम प्रधान बिस्व करि राखा,
जो जस करइ सो तस फलु चाखा ।

-रामचरित मानस/अयोध्याकाण्ड/217-18

कुछ करते नहीं भगवान -

जीव अपने भले-बुरे कर्मो का स्वय कर्ता है और उनके शुभ-अशुभ फलो का स्वय भोक्ता है । इस बात को गीता में भी पुष्ट किया गया है । गीता-गायक श्रीकृष्ण कहते हैं- 'वह प्रभु न करता है, न कराता है ।'

न कर्तव्यं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्मफल-संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

-गीता/5-15

-'वह प्रभु न तो प्राणियों के कर्तापन को निधारित करता है, न कर्मो को करता है, और न कर्म-फलो का संयोग ही बैठाता है, बल्कि स्वभाव मे स्थित प्रकृति के अनुसार ही सभी बर्तते हैं । जैसी जिसकी प्रकृति सात्विक, राजसी अथवा तामसी है, उसी स्तर से वह बर्तता है ।

प्रकृति तो लम्बी-चौड़ी है लेकिन आपके ऊपर उतना ही प्रभाव डाल पाती है, जितना आपका स्वभाव विकृत या विकसित है ।'

-'प्राय लोग कहते है कि करने-कराने वाला तो भगवान है। हम तो यत्र हैं । हमसे वे भला करावे अथवा बुरा । किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'न वह प्रभु स्वयं करता है, न कराता है, और वह जुगाड भी नही बैठाता । लोग अपने स्वभाव मे स्थित प्रकृति के अनुरूप स्वत कार्य करते है । वे अपनी आदत से मजबूर होकर करते है, भगवान उनसे भला-बुरा कुछ नही कराते ।'

तब लोग कहते क्यो हैं कि भगवान करते हैं ? इस पर योगेश्वर बताते है -

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभु ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जन्तव ॥

-गीता/5-16

-'जिसे अभी प्रभु कहा, उसी को यहाँ विभु कहा गया है क्योंकि वह सम्पूर्ण वैभव से सयुक्त है । प्रभुता एव वैभव से सयुक्त वह परमात्मा न किसी के पाप कर्म को, और न किसी के पुण्य कर्मो को ही ग्रहण करता है । फिर लोग क्यो कहते हैं ? इसलिये कि अज्ञान के द्वारा उनका ज्ञान ढँका हुआ है । उन्हे अभी आत्म-साक्षात्कार सहित ज्ञान तो हुआ नही, वे अभी 'जन्तु' हैं । मोहवश वे कुछ भी कह सकते हैं ।'

-भगवद् गीता/अध्याय 5
श्री परमहस आश्रम अनुसुइया से प्रकाशित
यथार्थगीता/पृष्ठ 121-22

माया का स्वरूप

श्रीमद्भागवत की धारा मे, और रामायण आदि ग्रन्थो मे भी, दो प्रकार की माया की चर्चा की गई है । एक ईश्वरीय माया या प्राकृतिक माया, और दूसरी जीवकृत माया या 'मन की माया' । वे व्याख्याए करते समय यह तथ्य स्पष्ट रूप से रेखाकित किया गया है कि ईश्वरीय या प्राकृतिक माया जीव के सुख-दुख का साक्षात् कारण नही है । जीव के सुख-दुख का कारण, उसकी स्वत-सृजित जीवकृत माया ही है । यही उसके पुण्य-पाप की जड है ।

रामचरित मानस में गोस्वामीजी ने स्वयं भगवान राम के मुख से

माया का स्वरूप कहलवाया है। विश्व की जटिल व्यवस्था की ऐसी सरल व्याख्या शायद अन्यत्र नही ढूँढी जा सकेगी। एक ही चौपाई मे महाकवि ने वह रहस्य प्रभु के मुँह से उद्घाटित करा दिया है-

मैं अरू मोर, तोर तैं, माया। एहि बस कीन्हें जीव निकाया॥
गो-गोचर, जहँ लग मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

-रामचरितमानस/अरण्यकाण्ड/14-15

इन पक्तियो का अर्थ बहुत सरल है- 'जीव ने ससार में दूसरे जीवो के साथ, या जड पदार्थो के साथ, मैं और मेरे का, तथा तू और तेरे का जो सबध गढ लिया है, वही वास्तविक माया है। सृष्टि के समस्त जीव उन्ही स्व-कल्पित सबंधो की मान्यता के कारण दुखी हो रहे है और अपने भविष्य के लिये भी सक्लेशो का सृजन कर रहे है। जो भी हमारी इन्द्रियो को सुहाता है, और हमारे मन को भाता है, वही सब तो माया है।' यह अतहीन सिलसिला अनादिकाल से चल रहा है, और अनन्तकाल तक चल सकता है।

आर्ष वाणी मे भी यह बार-बार कहा गया है कि मन से बडा मनुष्य का कोई मित्र नही है। मन को साधकर ही मनुष्य नर से नारायण बनने का प्रयत्न कर सकता है। दूसरी ओर मन से बडा मनुष्य का कोई शत्रु भी नही है क्योंकि मन की विकृति ही उसे बडी विपदाओ मे डाल सकती है। मन के माध्यम से बध और मोक्ष दोनो साधे जा मकते है-

मन एव मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयो·
गुणेषु सक्तं बंधाय, रतं या पुंसि मुक्तये।

-भागवत/11

कबीर ने कहा- 'माया तो मन से ही उत्पन्न होती है। सत, रज, और तम इन गुणो मे माया का विलास है। पृथ्वी और जल आदि पच तत्वो के स्वरूप से जीव को उलझाने वाली यह मन की माया ही है'-

मन ते माया उपजै, माया तिरगुण रूप।
पांच तत्व के मेल में, बांधै सकल सरूप॥

माया की महिमा सब गाते हैं। उससे बचने का उपदेश सब एक दूसरे को देते हैं, परन्तु माया के स्वरूप का निर्धारण कुछ कठिन है। माया को परखने का उपाय कोई बिरला ही कर पाता है।
दृश्यमान जगत में दिखने वाले प्रकृति के मनोहर दृश्य माया नही हैं।

माया तो मन की आसक्ति का नाम है। कबीर ने कहा - 'जो मन को बाँध ले, जो मन मे बस जाये, वह माया है।'

माया माया सब कहैं, माया लखै न कोय।
जो मन से ना ऊतरै, माया कहिये सोय ॥

जैनाचार्यों ने जीव को अज्ञान भाव से या मोहभाव से उत्पन्न 'मैं और मेरे' की कल्पना पर आधारित, इन अवास्तविक संबधो को 'अहकार' और 'ममकार' के नाम से कहा है। किसी दूसरे पदार्थ मे 'यह मैं ही हू' ऐसी कल्पना कर लेना अहकार है। किसी दूसरे जीव या पदार्थ मे 'यह मेरा है' ऐसी मान्यता ममकार है।

अहकार और ममकार ही जीव के लिये दुख और क्लेश के जनक हैं। उसे सुख-दुख देने वाली अन्य कोई शक्ति इस विश्व मे नहीं है। ये अहकार और ममकार के द्वद्व जीव स्वत अपने मे पैदा करता है। और उनके कारण सुखी-दुखी होता रहता है। यही उसकी 'निजकृत-माया' है। इसे ही 'मन की माया' कहा गया है। साधना के क्रम मे सबसे पहले हमारे अहकार और ममकार छूटना चाहिये।

माया का त्याग करने का सकल्प लेकर लोग स्त्री-पुत्र और परिवार को छोड देते हैं। घर और व्यापार का त्याग कर देते हैं। परन्तु इन सबके साथ जोडने वाली मन की सूक्ष्म आसक्ति नही छोड पाते। माया के आधार छूट जाते हैं। परन्तु माया की डोर नही टूटती।

कबीरदास ने एक जगह कहा -'स्थूल माया को छोडना आसान है, परन्तु सूक्ष्म आसक्ति-रूप मन की माया को छोडना बहुत कठिन है। मन की झीनी माया बडे-बडे साधको, ऋषि मुनियो और पीर-पैगम्बरो को भी साधना से भ्रष्ट कर देती है। जिन्होने इस झीनी माया पर विजय प्राप्त कर ली उनका स्थूल पदार्थों का त्याग करना सार्थक हो गया। ऐसा ही साधक ससार के दुखो के ऊपर उठकर सुख प्राप्त कर सकता है' -

मोटी माया सब तजें, झीनी तजी न जाय।
पीर पैगम्बर औलिया, झीनी सबको खाय ॥

झीनी माया जिन तजी, मोटी गयी बिलाय।
ऐसे जन के हृदय से, सब दुख गये हिराय ॥

गोस्वामीजी ने माया को सारे अनर्थों की जड़ बता कर निष्कर्ष निकाला कि सारी मानसिक व्याधियो की उत्पत्ति माया से ही होती है -

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला,
जेहि तैं पुनि उपजहिं बहु सूला । -रामचरितमानस

उन्होंने कहा-'माया की दुर्जेय सेना संसार मे सर्वत्र फैली हुई है । इस सेना को जीतना आसान नही है । अतृप्त काम ही इस सेना का सेनापति है और मायाचारी, छल तथा पाखण्ड उसके बलवान योद्धा हैं ।

व्याप रहेउ संसार महँ माया कटक प्रचण्ड,
सेनापति कामादि, भट, दम्भ-कपट-पाखण्ड ।

कबीर ने भी कामना को ही मन की माया निरूपित करते हुए कहा-'उसकी बात तो सब करते हैं पर उसे पहचानता कोई नही । वास्तव मे मन की सारी कल्पना ही काम है । वही मन की माया है । इसी माया ने सारे ससर को ठगा है । जो छलिया इस विश्व-व्यापिनी माया से ऊपर उठकर एक बार उसे ठग ले यह प्रणम्य हो जाये-

काम काम सब कोई कहै, काम न चीन्है कोय
जेती मनकी कल्पना, काम कहावै सोय ।

माया तो ठगनी भई, ठगत फिरै सब देस,
जो ठग से ठगनी ठगै, ता ठग को आदेश ।

द्वन्द्व ही दुख का जनक है

रेशम का कीडा अपने ही भीतर से ततु निकाल कर अपने ऊपर लपेटता है । अत में उसी बंधन मे जकडा हुआ मृत्यु का ग्रास बनता है । इसी प्रकार जीव अज्ञान या मोह बुद्धि के कारण अपने ही भीतर से द्वन्द्व उपजाता है और उसकी गुंजलिकाओं में उलझता जाता है ।

द्वंद्व अपने आप में दुखद है । उसकी शाखाए-उपशाखाए अनन्त हैं । इष्ट और अनिष्ट, प्रिय और अप्रिय, हितकर और अहितकर, सुन्दर और असुन्दर, शत्रु और मित्र, सज्जन और दुर्जन, अच्छा और बुरा, मेरा और तेरा आदि-आदि न जाने कितने प्रकार के द्वंद्व हम अपने भीतर उपजाते है और उन्ही में खोकर रह जाते हैं । यही द्वंद्व हमारे दुःख के जनक हैं । इन्ही के वशीभूत होकर हम इस संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं ।

ससार वास्तविक हो तो हमे कुछ देगा नहीं और स्वप्नवत् बिल्कुल मायाजनित हो तो हमारा कुछ लेगा नही। जीव के लिये अकारण दुख और क्लेश पहुँचाने वाले निमित्तो का सृजन दीनबधु, भगवान क्यो करेगे? प्रकृति तो चेतना रहित जड ही है। बहेलिये की तरह भोले प्राणियो को फँसाने के लिये माया का जाल बिछाना चाहिये, ऐसा सकल्प करने की चेतना भी प्रकृति के पास नही है। तब हम अपने दुखों और क्लेशो के लिये ईश्वरीय माया को, अथवा प्राकृतिक माया को कैसे दोष दे सकते हैं? यह तो बिल्कुल निराधार अभियोग होगा।

हमे इस जन्म और मरण के कोल्हू मे पेरने वाली माया तो हम स्वय रचते हैं। उसके उपादान तो हमी हैं। हमारे ही भीतर राग-द्वेष और मोह की लहरे उठती है जो हमे अशान्त कर देती है। वहीं अविद्या के वे चक्रवात उठते है जो हमारा सब कुछ तहस-नहस कर देते हैं। मन मे उस माया का सृजन करते रहना, दूसरे जीवो मे, या पर-पदार्थ मे 'मै और मेरे' का सम्बध बनाकर अहकार और ममकार करते रहना, हमारी अपनी भूल है। यह तो हमारी अनादि की कुटेव है।

हम अपने मिथ्या-ज्ञान और मिथ्या पुरुषार्थ से 'अहकार' और 'ममकार' उपजाते रहते है। वे अहकार-ममकार ही हमारे ज्ञान और पुरुषार्थ को दूषित करके विषाक्त बनाते रहते हैं। रेशम के कीडे की तरह, उन सबके बीच मे फँसे हुए हम, बार-बार अपने विनाश की प्रतीक्षा करते है फिर हर बार नया जन्म लेकर, सर्वथा अनजाने परिवेश मे पुन द्वद्वो की वही फसल उगाने मे लग जाते हैं।

साधन तो मिले हैं संकल्प चाहिये

मनुष्य भव पाकर मन के मायाजाल को तोडना, आधि-व्याधि और उपाधि से थोडा ऊपर उठकर अविनश्वर सुख की दिशा मे कदम बढा लेना बहुत कठिन नही है। तुलसीदास ने मनुष्य की देह को ससार सागर से तरने के लिये बेडे के समान माना है। उस पर भी ईश्वर की भक्ति और सद्गुरु जैसी नौका का सहारा मिला हो तो फिर हमे और क्या चाहिये। इस जन्म मे यह सब तो हमे मिला है। सिर्फ सकल्प की कमी है।

सतो ने तो कहा-'ऐसे दुर्लभ सयोग पाकर भी जो भव-सागर से उबरने का उपाय नही करते, उनकी समझ बुद्धिसगत नही है। वे तो

आत्मघात की राह पर जा रहे है । समय बीत जायेगा और उन्हे आगे जाकर दुख ही उठाने पड़ेगे । पछतावा ही उनके हाथ रहेगा । यदि ऐसे प्रमादी लोग, अपनी कायरता छिपाने के लिये काल को, कर्म को, या ईश्वर को दोष दे तो वह दोषारोपण सम्यक् नहीं होगा'-

नर-तन भव-वारिधि कर बेरौ, सनमुख मरुत अनुग्रह मेरौ ।
तरनहार सद्गुरु दृढ़ नावा, दुर्लभ साज-सुलभ कवि पावा ।
जो न तरै भव-सागर, नर, समाज अस पाई,
सो कृति-निन्दक, मंदमति आत्माहन गति जाई ।
सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि-धुनि पछताई,
कालहिं-कर्महिं-ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाई ।

वास्तविकता यही है कि अपनी भूल से हम दुख उठा रहे है, अत अपने उत्कर्ष के लिये हमे स्वय ही उद्योग करना होगा । कर्म ऐसे कृपालु नही हैं जो स्वय हमे मुक्त कर दे । काल सदा अपनी गति से चलता है, वह हमारी सहायता के लिये रुकेगा नहीं । रहा ईश्वर, सो वह साक्षीमात्र है । उसे पुकारा जा सकता है, उसका सहारा लिया जा सकता है, पर उसकी ओर बढने का सकल्प तो हमे ही करना होगा । कदम तो हमे ही बढ़ाना होगा ।

कठिन नहीं है दुविधा को तोडना

कोई सोता हुआ व्यक्ति सपने मे देखे कि उसके बिस्तर मे, और उसके कमरे मे आग लग गई है, चारो ओर सब कुछ सुलग रहा है । हम कल्पना करे कि उस पूरे कमरे की आग बुझाने के लिये कितने पानी की आवश्यकता होगी ? एक बूंद भी नही चाहिये । किसी प्रकार उस व्यक्ति की निद्रा तोड देनी है, बस इतना पर्याप्त होगा, और कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है । कल्पना की आग कल्पना मे ही बुझेगी ।

नीद खुलते ही उसका सारा भय स्वत समाप्त हो जायेगा । सारी आग, सारी तपन, और सारा धुआँ न जाने कहाँ विलीन हो जायेगा । वह जो अभी-अभी जल मरने की विभीषिका से आतकित था, जागते ही अपनी सुरक्षा के प्रति आश्वस्त हो जायेगा । उसे एक सर्वथा नवीन शीतलता का अनुभव होगा ।

मन की माया का आतंक भी ऐसा ही है। उसकी तपन भी इतनी ही काल्पनिक है। उस आतक की आग को बुझाना भी इतना ही आसान है। केवल सृष्टि का रहस्य जानने की उत्कण्ठा चाहिये। ससार की वास्तविकता को समझने का कौशल चाहिये। अपनी मोह-निद्रा को नाश करने की भावना चाहिये।

मोह-निद्रा का अवसान होते ही व्यक्ति मे सृष्टि के रहस्यो को समझने की पात्रता आ जाती है। कुरुक्षेत्र मे वासुदेव कृष्ण ने अपने सखा को विराट-रूप दिखाकर सृष्टि के उन्हीं रहस्यो का परिचय तो कराया था। आज भी साधक की मूल समस्या यही है। हमारे भीतर का अर्जुन भी हताशा-ग्रस्त हो रहा है। बार-बार ससार और शरीर के स्वभाव का चिन्तन ही उसमे कर्मठता का सचरण कर सकता है। विश्व की वास्तविकता की अवधारणा ही उसके लिये आगे का पथ प्रशस्त कर सकती है।

सृष्टि की यर्थाथता को समझने के लिये सतो ने जो दृष्टिकोण अपनाये है उन्हे अनुप्रेक्षा या भावना कहा गया है। भावना वैराग्य की माता मानी गई है। भावनाओ का पुन-पुन· चिन्तन करने से ससार की परिपाटी टूटती है। भावना भव-नासनी।

भावना भव नासनी

सृष्टि का रहस्य जानने की जिज्ञासा मनुष्य मात्र की स्वाभाविक जिज्ञासा है । मानव को कल्याण का मार्ग बताने वाले प्राय सभी विचारकों ने इस रहस्य को समझने-समझाने के प्रयास किये हैं । उनके समाधान चाहे जितने भिन्न रहे हो, परन्तु एक तथ्य पर वे सभी एकमत लगते है कि यह सारी सृष्टि मूलत· जड और चेतन इन दो तत्वों के मेल से बनी है । विश्व का सारा खेल इन्ही दो तत्त्वो का है । इन दो तत्त्वो की व्याख्या सामान्यत इस प्रकार की गई है -

प्राणियों के शरीर मे जानने-देखने वाला जो ज्ञानमय तत्त्व है, देह के भीतर ऊपर से नीचे तक सर्वत्र व्याप्त जो देही है, वही 'आत्मा' है ।

चेतनामय होने से वही 'चेतन' है ।

उसी तत्त्व के कारण प्राणी का जीवन है अत वही 'जीव' है ।

वही, और उतना ही 'मै' हूँ ।

शेष सब मेरे लिये अन्य है, 'पर' है ।

इस जगत मे जो कुछ लाल-पीला, हरा-नीला आदि हमे दिखाई देता है, मीठा-खट्टा, कडुआ-कषायला आदि जिभ्या से चखने मे आता है, सुगन्ध और दुर्गन्ध के रूप मे सूँघकर अनुभव किया जाता है, ठडा-गरम, नरम-कठोर, हल्का-भारी और रूखा-चिकना, जो कुछ हम शरीर से छूकर जानते हैं, और ध्वनि, शब्द, अथवा 'आहत-नाद' जिसे हम कानो से सुनते हैं वह सब जड पदार्थ या 'अचर' का विस्तार है ।

वह सब 'अजीव' है । वह सब जड की लीला है ।

यहाँ एक बात अवश्य ध्यान मे रखनी होगी कि वह जड या अचेतन जब सूक्ष्म रूप मे होता है तब वह इन्द्रियों के माध्यम से हमारे जानने में नहीं आता । परन्तु उस दशा में भी, रूप, रस, गध और स्पर्श आदि सब कुछ उसमे होता ही है । उस दशा में उसे पहचान पाना इसलिये असंभव होता है, क्योंकि हमारी इन्द्रियाँ मात्र स्थूल को ही जान पाती हैं । सूक्ष्म को जान लेने की शक्ति उनमें नही होती ।

मुख्यतया जड और चेतन के योग से ही वह सृष्टि शास्वत बनी हुई है। जड को जान लेने पर जगत हमारी दृष्टि मे आ जाता है, और चेतन को जान लेने पर उसमें जन्म-मरण करता हुआ जीव हमारे ज्ञान मे आ जाता है।

यह तो जग को जानने की प्रक्रिया हुई। परन्तु इस जग मे उस जानने वाले को जान लेना, अपने आप की पहिचान कर लेना, कुछ अलग है। उस 'स्व' को जाने बिना सारा जानना निरर्थक रह जाता है। वास्तव मे मेरा जगत तो वही, और उतना ही है। मेरी चेतना का विलास, या मेरा अपना परिणमन ही तो मेरा ससार है। इस समूचे दृश्य जगत का ज्ञान मेरे लिये तभी सार्थक है जब उसमे से मै अपने आपका अभिज्ञान कर सकूँ इस दृष्टा को पहचान सकूँ । स्वय को जान सकूँ।

क्षुद्र योनियो मे तो अपने आपको जानने के साधन प्राप्त ही नही हुए। अब सारी योग्यताओ और अनुकूलताओ से सम्पन्न मनुष्य जन्म मे, जब हमें आत्म-ज्ञान के सारे साधन उपलब्ध हुए हैं, तब उस ओर हमारी रूचि नही है।

मनुष्य इस ससार मे सब कुछ जानना चाहता है, परन्तु वह अपने आपको जानने के लिये कोई उपाय नही करना चाहता। किसी आचार्य ने इसे जगत का सबसे बडा आश्चर्य बताते हुये कहा- 'सब लोग जगत मे सब कुछ जानने के जिज्ञासु हैं परन्तु उस जानने वाले को कोई नही जानना चाहता। इससे बडा आश्चर्य और क्या होगा ?

पश्यन्ति हि जनाः सर्वे, सर्वमेव जगत सदा,
द्रष्टारं नैव पश्यन्ति, किमाश्चर्यमत· परम्।

एक शायर ने कहा- 'शरीर और आत्मा का रिश्ता कैसा विचित्र रिश्ता है। पूरी उम्र एक दूसरे से गुँथकर रहे किन्तु परिचय भी नही हो पाया -

जिस्म औ रूह का रिश्ता अजीब रिश्ता है,
उम्र भर साथ रहे और तआरुफ न हुआ।

भक्ति और प्रभु-पूजा से सारे अनुष्ठान, ईश्वर-कृपा के लिये की जाने वाली सारी आराधना, केवल इसीलिये तो है कि मै अपने भीतर बैठे हुए उस ईश्वरीय तत्व का, उस भगवान चेतन आत्मा का, दर्शन कर सकूँ जो नितान्त मेरा अपना है। जिसका अस्तित्व ही मेरा संसार है। गोस्वामी जी ने जीव के लिये अपने सहज-स्वभाव का ज्ञान, या

उसकी उपलब्धि को ही ईश्वर-आराधना का फल माना है । उनके आराध्य आश्वस्त करते है कि-

मम दर्शन फल परम अनूपा,
जीव पाव निज सहज सरूपा । -रामचरित मानस

एक स्थान पर तुलसी दास ने इस आत्म-साक्षात्कार के लिये भगवान की भक्ति के जल से अपने चित्त को प्रक्षालित करने का परामर्श देते हुये कहा है- निर्मल मन मे, बिना प्रयास ही धीरे-धीरे उस चिदानन्द चैतन्य परमात्मा की प्रतीति साधक को अपने भीतर स्वयमेव होने लगेगी ।

रघुपति भगति वारि-छालित चित,
बिनु प्रयास ही सूझे ।
'तुलसिदास' यह चिदविलास जग,
बूझत - बूझत बूझै ।

卐 जड की माया मे फॅसे अपने इसी 'चिद्‌विलास' को जानना है ।

卐 इस विस्तृत ससार मे मेरा क्या स्थान है ?

卐 जन्म-मरण के चक्र मे फॅसा हुआ मै क्यो इसमे भटक रहा हूँ ?

卐 मेरा भूतकाल कैसा था ? मेरा वर्तमान ऐसा क्यो है ? मेरा भविष्य कैसा होगा ? क्या इन परिस्थितियो के निर्माण मे मेरा भी कोई योगदान, या अपराध है ?

卐 क्या अपना भविष्य सुधारने के लिये मै वर्तमान मे कुछ उपाय कर सकता हूँ ?

ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो प्राय हम सबके मन मे उठते रहते हैं । इन प्रश्नो का समाधान हम खोजना चाहते हैं । इन प्रश्नो का समाधान खोज लेना ही अपने को जानना है । जब तक हमने भूत-भविष्य और वर्तमान की दशाओं को, कारण सहित नही जान लिया, तब तक हम यह नही कह सकते कि हमने आत्म-तत्व को जान लिया है । अपने और पराये को, स्व और पर को, सही परिपेक्ष्य में जान लेना ही स्वरूप का ज्ञान है । वही स्व-पर-विज्ञान है । वही स्वाध्याय है ।

सत कबीर ने एक जगह कहा- 'ज्ञान की तो करोडो बाते की, परन्तु इससे लाभ क्या हुआ ? जिसका अनुभव करना चाहिये था वह आत्म-तत्व तो निपट अनजाना ही रह गया। जब तक अपनी ही पहिचान नही होगी तब तक अज्ञान का अधकार मिटेगा कैसे ? जब सूर्य उदय नही होगा तब करोड़ों तारे भी क्या रात के अधेरे को दूर कर सकेंगे ?

आत्म-तत्त्व जाना नहीं, कथे जु कोटिक ज्ञान,
तारे तिमिर न नासहीं, जब लग उगे न भान।

जब अपने बारे मे इस तरह के प्रश्न मन में उठते हैं वास्तव मे तभी से अपने आपको जानने की हमारी यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। यह यात्रा बहुत कठिन नही है। कठिनाई यह है कि हमने कभी अपने आपको जानने का प्रयास ही नही किया। पर को जानने मे, और उसी 'पर' मे रचते-बसते रहने मे हम इतने व्यस्त रहे कि उसी 'पर' को अपना 'स्व' मान बैठे। उसी के अस्तित्व मे अपनी सत्ता स्वीकार कर बैठे। उस हॉबी के लिये हमारे जन्म छोटे पडते गये। अगले जन्मो मे उसी 'पर' के सान्निध्य की लालसा सँजोये हम बार-बार जन्मते और मरते रहे। हमने कई बार अपने बारे मे बात तो की परन्तु, हमारी धारणा मे इस बाबद जो भ्रान्तियाँ चली आ रही थी, उनका निराकरण करने का साहस हमने कभी नही किया। एक बार भी नही।

स्वयं अपने बारे मे मन की माया से प्रेरित इस भरम को तोडकर, जिन्होने एक बार भी अपने भीतर झॉक लिया, वे वन्दनीय हो गये। उनका नाम माला के मणियो पर और तसबीह के मनको पर दुनियॉ मे दोहराया जाने लगा। उन्होने अपने भीतर से एक अनोखी रोशनी इस धरती पर बिखेरी। न जाने कितने लोग इस रोशनी के सहारे चल निकले और अपने लक्ष्य तक पहुँच गये।

जिस दिन अपने 'स्व' से हमारा परिचय हो जाता है, उसी दिन, उसी क्षण 'पर' को भी हम जान लेते हैं। पर को सही ढग से जानने के लिये स्व का जानना आवश्यक है। जिसने स्व को नही जाना वह पर को जान ही नही सकता।

भगवान महावीर ने तो स्व की पहिचान मे ही अपने 'रत्न-त्रय' की प्रतिष्ठा कर दी। वे कहते हैं- 'पर' से भिन्न 'स्व' की आस्था ही सम्यग्दर्शन है। पर से भिन्न 'स्व' का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है और पर से

भिन्न 'स्व' मे रच-पच जाना ही सम्यक्चारित्र है। महावीर तो कहते हैं जिसने अपना बनने की ठान ली, और जो अपना बन गया, वह स्वय भगवान ही बन गया। महावीर के इसी आश्वासन को एक मित्र ने इस प्रकार दो पक्तियो मे बॉध कर कहा है-

अपने भीतर डूब कर पा ले सुरागे-जिन्दगी,

तू अगर मेरा नहीं बनता, न बन, अपना तो बन।

अपने ही अन्तर में दृष्टि डालकर हम उस परम तत्व को पहचान सकते हैं। उसे ढूढने के लिये अन्य किसी की ओर देखने की आवश्यकता नही है। शर्त इतनी अवश्य है कि उसे पहचानने वाली दृष्टि हमारे पास हो। आज जब हम तरह-तरह की वासनाओ से भरे अपने आक्रान्त-अत करण की ओर देखते हैं, तब हमे उन सबके बीच से अपने आप को पहचानना कठिन लगता है। यह कठिन भले हो, परन्तु असम्भव नही है।

आज भले ही हमे विराट् रूप का दर्शन कराने के लिये कोई वासुदेव साक्षात् हमारे समक्ष न हो, पर चिन्तन की धरा पर विश्व के वास्तविक रूप का साक्षात्कार कर लेना आज भी सहज-सम्भव है। इतना भर नही, वरन् चिन्तन के माध्यम से साधक इस विशाल विश्व मे अपनी वर्तमान स्थिति का सही आकलन करके अपने आपको ऊपर उठाने का प्रयास भी कर सकता है। जिसने भी आत्मोत्कर्ष की दिशा मे कदम बढाया है, उसने इन्ही स्थितियों मे से, इसी प्रकार चिन्तन का सहारा लेकर ही, अपनी यात्रा प्रारम्भ की है।

जैन सतो ने विश्व का वास्तविक स्वरूप समझने के लिये बहुत चिन्तन किया है। उन्होने यह निष्कर्ष निकाला है कि यह वास्तविकता निरन्तर हमारी दृष्टि मे रहना चाहिये। बार-बार उस पर विचार होना चाहिये। वस्तुस्थिति के चिन्तन की इसी धरा पर साधना का भवन खडा हो सकता है।

वैसे तो जगत के स्वभाव और स्वरूप का चिन्तन अनेको प्रकार से हो सकता है, परन्तु जैनाचार्यों ने उसे बारह प्रकारों मे वर्गीकृत करके कहा है। इसे 'द्वादस-अनुप्रेक्षा' कहा गया है। प्रेक्षा का अर्थ है देखना और अनुप्रेक्षा है - बार-बार देखना. बार-बार विचारना या अनवरत चिन्तन-अनुचिन्तन करना।

बारह भावनाएं

बारह-भावनाए सात्विक जीवन का मगलाचरण है। जैन साहित्य मे इन्हे बहुत महत्व दिया गया है। प्राकृत हो या सस्कृत, अपभ्रश हो या हिन्दी, सभी मे बारह-भावनाओ पर प्रचुर मात्रा मे लिखा गया है। प्राचीन कवियो मे कविवर भूधरदास की बारह भावना सर्वाधिक प्रचलित काव्य है। अपने पार्श्व पुराण मे कवि ने एक-एक दोहे मे हर भावना का स्वरूप बडे कौशल के साथ व्याख्यापित किया है। शायद ही कोई ऐसा जैन होगा जिसे पॉच-सात-साल की आयु मे ये दोहे कठस्थ न कराये गये हो।

यहॉ हम उन्ही दोहो का सहारा लेकर उन भावनाओ की व्याख्या करेगे। अनेक आधुनिक कवियो ने भी इस प्रसंग को अपनी कविता का विषय बनाया है। उसमे राजधर जैन के पद्यो की सरलता और अर्थ-गम्भीरता पाठक को सहज आकर्षित करती है। यहाँ वे पद्य भी उद्धृत किये जा रहे हैं। सत-साहित्य मे भले ही द्वादस-अनुप्रेक्षा का नाम न आया हो, पर गोस्वामी तुलसीदास और कबीर आदि सत कवियों की वाणी मे भी, चाहे इनके नाम भले ही न आये हो, पर प्राय इन भावनाओ की चर्चा आई है। उनमें से भी कुछ उद्धरण यहॉ लिये गये है। कवि श्री जयभगवान जी वकील की अंग्रेजी पक्तियाँ भी प्रस्तुत हैं।

१

अनित्य भावना

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार,
मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार।

-कविवर भूधरदास

संसार में सुत-सुता, सजनी-सजन, अरु सीमंतिनी,
गौ-गेह-गज, तारुण्य-तन, सम्पत्ति संकट-टालिनी।
सब चंचला, चपला सदृश अस्थिर, यही निश्चय करो,
मोहित न होकर के इन्हों में, स्व-पर-हित साधन करो।

-गजधर जी

ससार की हर वस्तु अनित्य है।

यहाँ कुछ भी शास्वत, सदा रहने वाला नही है।

जिसने जन्म लिया है उसे अपने समय पर मरना ही है। छोटा हो या बडा, निर्धन हो या धनी, निर्बल हो या बलवान, सभी को अपनी अपनी बारी पर यहाँ से बिदा लेना ही पडती है।

यह सच है कि अपने कर्मो का फल भोगने के लिये प्राणी को बार बार जन्म लेना पडता है, परन्तु हर जन्म के उपरान्त एक दिन उसका मरण भी अनिवार्य है।

इस प्रक्रिया मे कभी, किसी के लिये कोई परिवर्तन नही होता।

'जन्म के बाद मरण' यह प्रकृति का अटल नियम है।

इसी प्रकार सारे नाते-रिश्ते, धन और सम्पत्ति भी आकाश मे चमकने वाली बिजली की तरह अस्थिर और क्षण-भंगुर हैं। निरन्तर इनकी अनित्यता का विचार करते हुए अपने मन-वाणी और शरीर को स्व-हित और परोपकार मे लगाना चाहिये।

सत कबीर ने कहा, जो आया है सो जायेगा। इतना अतर अवश्य है कि कोई पुण्य की गठरी बाँधकर शुभ गति के लिये कूच करेगा और कोई पाप के बंधनो से जकडा हुआ नीच गति मे जायेगा, पर जाना सबको पडेगा। प्रिय जन और मीत सब जा रहे हैं। मेरी बारी भी प्रतिक्षण निकट आ रही है -

आये हैं ते जायेंगे, राजा-रंक फकीर,
एक सिंहासन चढ़ि चले, इक बंधे जात जंजीर।
बारी-बारी आपने, चले पियारे मीत,
तेरी बारी जीयरा, नियरे आवे नीत।

तुलसीदासजी ने एक ही पक्ति मे यह बात कह दी। डाल पर जो फल लगेगा उसे एक दिन डाल से टूटना ही होगा। जो ज्योति जलेगी वह एक दिन बुझेगी ही-

धरा कौ प्रमान यहै तुलसी,
जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।

कबीर ने भी उनके स्वर मे स्वर मिलाकर ससार की अनित्यता को रेखाकित किया-

जो ऊगै सो आथवै, फूलै सो कुम्हिलाय,
चुना जाय सो ढहि परै, जनमैं सो मरि जाय।

ससार मे हर जीवन की अन्तिम परिणति मृत्यु ही है। मृत्यु निश्चित है सिर्फ उसका समय निश्चित नहीं है। वह किसी को भी, कही भी, किसी भी क्षण, महानिद्रा मे सुला दे सकती है।

जब बडे-बडे समृद्ध-शक्तिशाली, सूरवीर, योद्धा और राजा-महाराजा, यहॉ तक कि स्वर्गो के देवी-देवता और इन्द्र-महेन्द्र भी, सदैव जीवित नही रह सके, उन सबको एक दिन अपनी बारी आने पर मरना ही पडा, तब मेरा शरीर सदा कैसे रह सकता है ?

एक शायर ने दुनिया की हकीकत की तस्वीर एक शेर मे इस प्रकार प्रस्तुत की है- दुनिया मे यदि कुछ स्थायी सा दिखता भी हो तो वह ऐसा समझना चाहिये जैसे कोई व्यक्ति डूबती हुई ध्वस्त नौका के पटरे पर गहरी नीद मे सो रहा हो। वह कितनी देर सुरक्षित रह सकेगा ?

कोई सोता हो जैसे डूबती कश्ती के तख्ते पर,
अगर कुछ है तो बस इतनी ही दुनिया की हकीकत है।

भूघरदासजी ने अपने एक पद में संसार की यथार्थता को बड़ी सादगी से चित्रित किया है- 'भाई ! तू भगवान की भक्ति से विमुख क्यो हो रहा है ? यह ससार तो नीद मे देखे गये सपने जैसा नि सार और नाशवान है । तेरा तन और धन, सब जल के बुलबुले की तरह क्षणभगुर है । यह तेरा जीवन, जिस पर तू इतना मोहित हो रहा है, यह तो जलती आग मे पड़े हुये घास के पूले के समान है यह कितने दिन रहेगा ? काल तो अपनी कुठार लेकर तेरे सिर पर ही खडा हुआ है और तू न जाने क्या समझ कर, अपनी अमरता के सपने सँजो रहा है। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये तो तू चौपाये पशुओ से भी तेज गति से, जैसे पाँच पैरों से भाग रहा है, पर धर्म की साधना के लिये, अपने आपको पगु समझता है, असमर्थ मान बैठा है । तू ही बता भाई ! जब तू केवल दुख उपजाने वाले काम करता रहेगा तो तुझे सुख कैसे प्राप्त होगा ? कहाँ से प्राप्त होगा ?

भगवंत भजन क्यों भूला रे।
यह संसार रैन का सपना, तन-धन वारि बबूला रे।
इस जीवन कौ कौन भरोसौ, पावक में तृन-पूला रे,
काल-कुदाल लियैं सिर ठांड़ौ, क्या समझै मन फूला रे।
स्वारथ साधै पाँच पाँव तू, परमारथ में लूला रे,
कहु कैसें सुख पैहै प्रानी, काम करै दुख-मूला रे।

-भूधरदास/अध्यात्म पदावली

इस सृष्टि मे आत्मा को छोडकर शेष सब कुछ अनित्य है । इस नाशवान देह मे रहने वाला मै अजर-अमर और अविनाशी हूँ । इस जन्म के पूर्व भी मै था, और मरण के उपरान्त भी मै रहूँगा । शेष जितने भी पदार्थ हैं वे सब अनित्य हैं । कोई इस रूप मे रहने वाला नही है । वे सब मुझसे भिन्न हैं । एक दिन मुझे उनसे अवश्य जुदा होना है । तब फिर उनमे मोह-ममता करके अपनी आत्मा को मलिन करने से क्या लाभ ? जिनके बीच मे जीवन भर रहना है, उनका यथार्थ स्वरूप समझकर, उनकी और अपनी वर्तमान दशा में जो स्व और पर दोनों के लिये हितकारी हो ऐसा व्यवहार चलाना ही मेरे लिये हितकर है ।

ससार मे सब कुछ अनिश्चित हो सकता है परन्तु जिसका प्रारम्भ है, उसका अन्त सुनिश्चित है। जिसका जन्म हुआ है। उसका मरण निश्चित, अटल और अनिवार्य है। यदि हम उसे भुलाकर चलेंगे तो किसी दिन जब अकस्मात् उसका सामना करना पडेगा तब बहुत सी कठिनाइयाँ हो सकती हैं। इसीलिये सतो ने कहा- सदा मृत्यु को दृष्टि मे रखो। निरन्तर उसका चिन्तन करो। उसे अपरिचित मत रहने दो। मनुष्य को मृत्यु का जितना भय लगता है वह केवल अपरिचय के कारण है। जिसने मृत्यु को पहचान लिया उसका सारा भय तिरोहित हो गया। ऐसे ही लोगो ने मृत्यु को परम-सखा कहा। माता के समान हितकारी कहा और मरण को 'मत्यु-महोत्सव' कहकर उस परम सत्य का स्वागत किया।

सातवें दिन आयेगी मौत

दो मित्र थे। एक साथ खेले, एक साथ पढे, फिर उनमे से एक किसी सत के सम्पर्क मे आकर साधना करने लगा और दूसरे ने अपनी गृहस्थी बसा ली। बहुत वर्षो के बाद मित्र के गॉव मे सत का आगमन हुआ। दोनो ने एक दूसरे को पहचान लिया। सत की बडी आव-भगत हुई। पूरे गॉव में हर्ष छा गया।

शाम को एकान्त मे लालाजी ने सत के सामने अपनी व्यथा रखी।- 'बडे कष्ट मे जीवन बीत रहा है। वेसे तो भगवान का दिया सब कुछ है। पत्नी, बेटे-बेटियॉ, नाती-पोते, धन-सम्पदा, सब है, कोई कमी नही है। परन्तु चिन्ता, लोभ-लालच और क्रोध मुझे हमेशा जलाते रहते हैं। मेरा स्वभाव बेहद चिडचिडा हो गया है। किसी उपलब्धि से, और किसी के किसी भी काम से मुझे सतोष नही होता। बहुत परेशान हूॅ। मेरा तो जीवन दूभर हो गया है।'

'जब इतना पाकर भी मैं दुखी हूॅ तब तुम सुखी कैसे रह लेते हो ? तुम्हारे पास तो कुछ भी नही है। न दो जोडी कपडे, न कल के खाने का ठिकाना, न सिर छिपाने के लिये छप्पर। फिर कहाँ से लाते हो इतना सतोष ? कैसे रह लेते हो इतने निश्चिन्त और प्रसन्न ?'

सत ने कहा- 'भाई ! साधना बडी कठिन है। उसके प्रयोग भी कष्टकर है। इस जन्म में अब तुम कर नहीं सकोगे। और अब तुम्हारे

पास समय ही कितना है ? सातवे दिन तुम्हारे जीवन का अत मुझे दिखाई दे रहा है। एक दिन भी इस होनी को कोई टाल नही सकेगा। एक दिन जो जैसा होगा, दूसरे दिन सब वैसा ही छोडकर तुम्हे जाना होगा। अच्छा यही है कि जिन्दगी भर परिश्रम करके जो समेटा है उसी के बीच आराम से ये गिने-चुने दिन और बिता लो, फिर जाना तो है ही। सातवे दिन की सुबह तुम्हारे प्रस्थान के पूर्व मै आऊगा तुम्हारे घर। वह अपनी अतिम भेट होगी।'

लालाजी सत की बात पर अविश्वास नहीं कर सके। अपनी आखिरी घडी उन्हे सामने दिखाई देने लगी। मृत्यु उनकी आखो के सामने नाचने लगी। एक क्षण के लिये भी उसे भुलाना अब उनके लिये सम्भव नही रहा। अब उनके लिये वह घर वैसा नही रह गया था। सब कुछ परिवर्तित सा, बदला-बदला सा लगने लगा। जीवन की धारा ही बदल गई। कहॉ गया क्रोध, और कहाँ चला गया लालच, वे स्वय भी नही समझ पाये। सब कुछ निसार दिखाई देने लगा। केवल एक ही बात याद रही- 'रविवार को जाना है।'

ऐसा लगने लगा समय पख लगाकर उड़ रहा हो। बहुत जल्दी रविवार भी आ गया। अभी लालाजी स्नान करके भगवत् नाम की माला फेर रहे थे कि उसी समय सत द्वार पर प्रकट हुये। लालाजी ने चरणो मे गिरकर प्रणाम किया और कहा- 'आपने देर क्यो कर दी ?' मै तो सुबह से ही तैयार बैठा हूॅ।'

सत ने कहा- 'यह चमत्कार कैसे हो गया ? आप इतने शान्त बैठे है। जो आपके सामने आने से डरते थे वे आपको घेर कर बैठे है। घर मे वातावरण एकदम शान्त दिखाई दे रहा है। आपका क्रोध और चिडचिडापन कहॉ चला गया ?'

-'महाराज ! जब से आपके पास से लौटा हूँ, मुझे मृत्यु के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नही दिया। मन मे भी बराबर यही बात घूमती रही कि सब कुछ छोड़कर सातवे दिन जाना है। अब इतने थोडे समय के लिये किस पर क्रोध करता ? जब सब छोडकर जाना ही है तो क्या समेटना ? आपका बड़ा उपकार है कि आपने समय रहते चेतावनी देकर मेरा अत सुधार दिया।'

सत ने प्यार से, मुस्कुराते हुये, अपने मित्र के सिर पर हाथ फेरा और उन्हे आश्वासन दिया-

-'आज ही जाना होगा ऐसा कुछ निश्चित नही है। किसे कब जाना है, यह कोई जान भी तो नही सकता। हमने तो केवल तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देने के लिये यह एक प्रयोग किया था।'

-'तुम्हें एक आशंका हो गई थी कि सातवें दिन मृत्यु आ सकती है। मात्र इतने से ही तुम्हारे मन के सारे आवेग शान्त हो गये। वासनायें मद पड गईं और जीवन के प्रति तुम्हारा दृष्टिकोण बदल गया।'

-'हमने जब से साधना प्रारम्भ की है तब से प्रतिक्षण मृत्यु की सम्भावना हमारी दृष्टि मे रहती है। लगता है जो साँस भीतर जा रही है वह लौटकर आयेगी या नही, कोई ठिकाना नही है। मृत्यु जीवन का अटल परिणाम है। यदि हम इस बात को ध्यान मे रखें तो हमारी जीवन-यात्रा शान्ति और सद्‌भावनापूर्ण हो सकती है। यही हमारे सन्तोष और आनन्द का रहस्य है।'

-'एक बात और कहनी है मित्र ! हमने तुमसे जो कहा था वह एकदम असत्य ही नहीं है। सोमवार से लेकर रविवार तक दिन तो कुल सात ही होते हैं। सबके जीवन का विसर्जन इन्ही मे से किसी दिन होता है। किसी के लिये आठवाँ कोई दिन है ही नही। इसलिये जाते-जाते इतना और कहना है कि किसके लिये कौन सा दिन अतिम दिन होगा, कोई नही जानता। अपने कर्तव्य का पालन करो और प्रत्येक दिन को जीवन का अतिम दिन मानकर सावधानी और विवेक पूर्वक जीना सीखो। वासनाओं के चक्र-व्यूह स्वय बिखरते जायेगे। एक-एक घड़ी आनन्द से भर उठेगी।'

मद-मद मुस्कुराते हुये सत दूसरे गाँव की ओर प्रस्थान कर गये।

अनित्य भावना के नित्य-चिन्तन से इसी प्रकार मुझे अपने जीवन को संस्कारित करना है। मृत्यु से डरना, उसकी कल्पना करके भयभीत रहना और उसे अशुभ अथवा अहितकर मानना भ्रम है।

मृत्यु तो माता की तरह है। माँ धूल मे लथ-पथ बालक के मैले वस्त्र उतारकर उसे नवीन स्वच्छ वस्त्र पहनाती है तब बालक उससे

दूर भागता है। वह मचल-मचलकर रोता है। हमे भी जीर्ण और रुग्ण शरीर छोड़कर नवीन शरीर प्राप्त कराने का काम मृत्यु के अतिरिक्त कोई नही कर सकता। इसीलिये तो संतो ने मरण को 'मृत्यु-महोत्सव' कहा है। मृत्यु ही हमारे नव-जीवन की जननी है।

मेरे जीवन मे यह महोत्सव किसी भी क्षण मनाया जा सकता है। किसी भी तरह वह मुहूर्त टाला नही जा सकेगा। भयाक्रान्त होकर, रोते-बिलखते हुए उस मुहूर्त को कोसते रहना या आश्वस्त होकर, प्रसन्न मन से उस मगल मुहूर्त का स्वागत करने के लिये हाथ बढाना है ? यह निर्णय हमारे हाथ मे है।

जगत की इसी नश्वरता को स्मरण करना 'अनित्य भावना' है।

1. Transitoriness of things

Kings, Emperors and Presidents,
and riders of Earoplanes
All shall die at one's own turn
Amidst the sea and plains.

२

अशरण भावना

दलबल देई देवता, मात पिता परिवार,
मरती बिरियाँ जीव कों, कोउ न राखनहार ।

-कविवर भूधरदास

सुर-असुर, सुरपति-नृपति, खगपति, वैद्य, निर्धन अरु धनी,
विद्वान-मूरख, सुभग-दुर्भग, गुनी अथवा निर्गुनी ।
संसार में कोई मरण से बचा सकता है नहीं,
चाहे करें वे मत्र-औषधि-तंत्र, जितने हों सभी । -राजधर जी

जगत मे जीव को मृत्यु से बचानेवाला कोई नही है । कितना भी बडा परिकर और परिवार हो, कितना ही बलवान शरीर हो, कितनी ही धन-सम्पदा हो, और किसी भी देवी-देवता की उपासना की जाये, परन्तु मृत्यु पर किसी का जोर नही चलता । उसके सामने सब निरुपाय हो जाते हैं । समय आने पर सबको मरना ही पडता है । सारी औषधियाँ, सारे मत्र-तत्र और सारी माया निरर्थक पडी रह जाती है । कालचक्र से बचाकर शरण देने वाला कही कोई नही है ।

सत कबीर ने कहा- जाने वाले को रोका नही जा सका । माता-पिता, सतान और बाधव, सबका सयोग निरर्थक ही सिद्ध हुआ-

जाने वाले ना रुके, किसकी पूछूँ बात,
मात-पिता, सुत-बाँधवा, सब झूठा संघात ।

कवि मगतराय ने कहा-''जन्म-मरण की इस अटवी मे चेतन के मृग को काल के सिह ने घेर लिया है । कोई बचाने वाला नही है । काल का लुटेरा जब काया की नगरी को लूटने आता है तब मत्र-यत्र और सेना, धन-सम्पदा और राज-पाट, सब निरर्थक हो जाते हैं । काल पर किसी का वश नही चलता । देव-धर्म और गुरु ही इस जीव के लिये शरण हैं, अन्य कोई शरण नही है । काल से बचाने की शक्ति किसी मे नही है, उसके सामने सब असहाय हैं ।

देव-धर्म और गुरु इस आतक से त्राण दे सकते हैं । वे भी मुझे मृत्यु से तो नही बचा सकते, परन्तु मृत्यु के आतक से अवश्य मुक्ति

दिला सकते हैं । जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये छुटकारा दिलाने की सामर्थ्य उनमे ही है । मेरी आयु बीती जा रही है, परन्तु मोह के नशे मे भटकता हुआ मै उनकी शरण मे जाने का सकल्प नहीं कर पाता,

काल सिंह ने मृग चेतन को घेरा भव-वन में,
नहीं बचावनहारा कोई, यों समझो मन में ।
मंत्र-तंत्र, सेना, धन-सम्पति, राज-पाट, छूटै,
वश नहिं चलता, काल लुटेरा काय नगरि लूटै । -कवि मगतराय

आज मै स्वय अनुभव करता हूँ कि ससार मे मुझे पीडा और मृत्यु से बचाने वाला कोई शरण नही है । पुण्य के उदय से विरोधी भी अनुकूल हो जाते हैं पर जब पाप कर्म का उदय होता है तब मेरे अपने भी बैरी की तरह दुखद व्यवहार करने लगते हैं । मित्र भी शत्रुवत आचरण करने लगते हैं । सब कुछ मेरे अपने ही पाप-पुण्य का खेल है ।

सीता के वियोग मे विरही राम ने राक्षसो का वध करके सीता को रावण के बंधन से मुक्त कराया, परन्तु दुर्भाग्य के समय उन्ही राम ने उसी प्रिया को राज्य से निष्कासित करके वनवास दिया । उस समय सीता को अपना कर्मोदय स्वय अकेले ही तो भोगना पडा । माता-पिता और गुरुजन कोई तो सहायक नही हुआ । राम सीता के विवाह के समय पुष्प-बरसाने वाले देवता, वनवास के समय सामने भी नही आये । रावण द्वारा सीता का अपहरण हुआ तब कौन बचाने आया ?

कर्मोदय के सामने मुझे भी इस ससार मे देवी-देवता, माता-पिता, मत्र-तत्र और सगे-सबधी, कोई भी शरण नही हो सकेगे । उसमे किसी का कोई दोष नही, ससार की वास्तविकता ही ऐसी है । किसी के दुख और पीडा का साझीदार कोई हो ही नही सकता ।

आचार्य रविषेण ने उत्तर पुराण के वनवास प्रसग मे यात्रा-श्रम से क्लान्त सीताका उपयोग बदलने का प्रयत्न करते हुए श्रीराम ने वन की विविधताओं को 'कर्म-प्रपच' की उपमा देते हुए कहा था -

अरुणं धवलं कपिलं हरितं, बलितं निभृतं सरवं विरवम्,
विरलं गहनं सुभगं विरसं, तरुणं पृथुकं विषमं सुसमम्.
इदं तद्दण्डकारण्यं प्रसिद्धं दयिते वनम्,
पश्यानेक विधं कर्म-प्रपंचमिव जानकी !

-पद्मपुराण सर्ग ४२, श्लोक ५०-५१

'जानकी !
देखो यह वन कहीं तो लाल है, कही श्वेत,
कही पीला है और कहीं हरा।
कहीं घुमावदार है, कहीं ऊँचा-नीचा है।
कही निस्तब्ध है, पर कही गुंजित हो रहा है।
कही तो यह अति सघन है, पर कहीं इसमे विरलता भी है।
इस अरण्य मे प्राय: सरसता और सुन्दरता दिखाई देती है,
परन्तु कहीं-कहीं अत्यंत शुष्क और नीरस लगता है।
कही तो इसकी तरुणाई, इसका हरा-भरा रूप दिखाई देता है,
पर कहीं यह अपनी विशालता का भी बोध कराता है।
कहीं यह वन सम लगता है पर कहीं-कहीं अत्यत विषम भी है।
प्रिये ! यह विशाल दण्डकारण्य बिलकुल 'कर्म-प्रपंच' की तरह,
उलझनो से भरा है, रहस्यमय है, और बहुत विचित्र है।'

ऐसे जटिल कर्म-चक्र के बीच मेरे लिये केवल मेरा ईश्वर और मेरा धर्म ही शरण है। जो उस परमात्मा को जानता है वह अपनी आत्मा को भी जानता है। हर आत्मा मे परमात्मा बनने की शक्ति है। वही मेरा 'अपना' है। शेष सब तो पराया है, यही छूट जाने वाला है। मेरा जन्म-जन्म का साथी और शास्वत शरण तो बस मै ही हूँ, अन्य मेरा सहाई कोई नही है।

2. No shelter

No army, power and invention;
Mother, father and the kin;
All at the time of Death;
Shall none keep ye in.

संसार भावना

दाम बिना निर्धन दुखी, तिसना बस धनवान ।
कहूँ न सुख संसार में,सब जग देख्यौ छान ।।

-कविवर भूधरदास

सुर-नर, नरक-तिर्यंच गतिमें, जीव दु:सह दुख सहै,
कर देह-परिवर्तन विविध नित कर्म से पीड़ित रहै ।
निस्सार यह संसार सब विधि, सार कुछ भी तो नहीं,
भूला हुआ है व्यर्थ क्यों इसमें न सुख-साता कहीं । -राजधर जी

ससार की वास्तविकता यही है कि यहॉ जो भी है वह किसी न किसी कारण से दुखी है । मानव मात्र को, हम दो भागो मे कल्पित कर सकते हैं । एक वे जिनके पास आजीविका और सुख-सुविधाओ का कोई साधन नही है । दूसरे वे जिन्हे कुछ मात्रा मे ये साधन, आजीविका, जर-जमीन और मकान आदि प्राप्त हुए है ।

अतर मे झॉककर देख सके तो दोनो प्रकार के मनुष्यो मे सुखी कोई नही, वे सब दुखी ही हैं । यह अन्तर अवश्य हो सकता है कि जिसके पास कुछ नही है वह 'कुछ न होने के दुख से' दुखी हो, उस 'कुछ' को पाने के लिये सघर्ष कर रहा हो । दूसरी ओर जिसके पास थोडा-बहुत कुछ है, उसके मन मे इतना अधिक पाने की आकॉक्षाए हैं जिनके सामने उस होने का कोई अर्थ नहीं है । वह अपनी 'अतृप्त आकाँक्षाओ के कारण' दुखी है । उन्हीं की पूर्ति के लिये एक अंतहीन सघर्ष मे लगा है । इस प्रकार ससार मे अपनी आशा, तृष्णा और अभिलाषा के अनुरूप हर कोई दुखी ही है । अतर केवल दुख के प्रकारो का और उसके परिमाण का है ।

भूधरदासजी ने अपनी लेखनी को तूलिका बनाकर ससार के वास्तविक, दुखमय स्वरूप का यथार्थ चित्र अंकित किया है- 'यह संसार एक भयानक अटवी के समान है । मैं अनादिकाल से इसमे भटक रहा हूँ पर इसका कोई ओर-छोर दिखाई नही देता । जन्म-मरण और वृद्धावस्था की ज्वालाओ मे झुलसता हुआ मैं दुख ही दुख भोग रहा हूँ -

इह संसार महावन भीतर, भरमत ओर न आवे,

जामन-मरन-जरा दौं दाझ्यौ, जीव महादुख पावै ।

चारो गतियो के दुखो का बखान करते हुये उन्होंने कहा-कभी नरक भोगना पड़ा जहाँ भयावनी परिस्थितियो मे लम्बे समय तक भीषण दुख सहे । पशु हुआ तब वध और बधन सहना पडे । भूख और प्यास की वेदना भोगनी पडी । स्वर्ग मे देव भी हो गया तो वहाँ भी आशा-तृष्णा ने पीछा नही छोडा । वहा दूसरे अधिक सम्पन्न देवो की सम्पदा देखकर झूरता रहा, और यह मनुष्य पर्याय तो अनेक प्रकार के दुखो से भरी हुई है । ससार मे सुखी कौन ?-

कबहूँ जाय नरक थिति भुंजै, छेदन-भेदन भारी,

कबहूँ पशु परजाय धरै तहँ, बध-बंधन भयकारी ।

सुरगति में पर-संपति देखें, राग उदय दुख होई,

मानुष जोनि अनेक विपतिमय, सर्व सुखी नहिं कोई ।

मनुष्य पर्याय तो हम और आप सभी भोग ही रहे है । हममे से अधिकाश की स्थिति क्या है, इसे भी कवि ने चित्रित कर दिया है - 'कोई अपने प्रिय के वियोग मे रो रहा है, किसी को अप्रिय के सयोग की पीडा है । कोई विपन्न है, उसके पास कुछ नही है, और कोई शरीर के रोगो को लेकर परेशान है । किसी के घर मे कर्कशा स्त्री, और किसी के परिवार मे दुष्ट बधु-बाधव दुख का कारण बन रहे है । किसी के दुख उसकी मुखाकृति पर झलक रहे है, बहुतेरे ऐसे भी है जिनके दुख बाहर से दिखाई नही देते, वे अपने भीतर वेदना की बाढ़ को छिपाये हुए मानसिक पीडाए भोग रहे है -

कोई इष्ट-वियोगी बिलखै, कोई अनिष्ट-संजोगी,

कोई दीन-दरिद्री रोवै, कोई तन के रोगी ।

किसही घर कलिहारी नारी, कै बैरी सम भाई,

किसही के दुख बाहर दीसैं, किसही उर दुचिताई ।

कोई सतान के लिये तरस रहा है, कोई सतान के वियोग मे सिसक रहा है । किसी के मन मे खोटी संतान के कारण चिन्ता की चिता जल रही है । कोई भी सुख से सो नही पा रहा । जिन्हे पुण्य के उदय सेअनुकूल परिस्थितियाँ मिली है उन्हे भी स्थायी सुख-साता कहा मिली है? कुछ न कुछ तो लगा ही रहता है । इस तरह यथार्थ में देखें तो यह जगत दुःख, संक्लेश, पीडा और वेदनाओ का ही घर है-

कोई पुत्र बिना नित झूरै, होय मरै तिन रोवै,
खोटी संतति सों दुख उपजै, क्यों प्रानी सुख सोवै ?
पुन्य उदय जिनके, तिनके हूँ, नाहिं सदा सुख-साता,
यह जगवास जथारथ देखें, सब दीखै दुखदाता ।

-भूधरदास/पार्श्व पुराण/3 79-84

गोस्वामीजी ने तो एक ही दोहे में सब कह दिया - संसार में तन-मन-धन तीनो से सुखी कोई नही है । कुछ न कुछ दुख सबके साथ लगा है । सुखी केवल वह जिसने भगवद्-भक्ति का सहारा लेकर अपने मन को संतुष्ट कर लिया-

कोई तन दुखी, कोई मन दुखी, कोई धन बिन रहत उदास,
थोड़े थोड़े सब दुखी, इक सुखी राम का दास ।

किसी शायर ने कहा था- जीवन की वास्तविकता को यदि सही दृष्टि से देखा जा सके तो ससार की असारता स्पष्ट हो जाती है -

जिन्दगी पर डाल ली जिसने हकीकत की निगाह,
जिन्दगी उसकी नजर में, बे-हकीकत हो गई ।

-ससार की वस्तुएं जितनी लुभावनी दिखाई देती हैं, वास्तव मे उतनी लुभावनी है नही । उनकी सगति में मुझे जो सुख का आभास होता है वह क्षणिक और सारहीन है । अंत मे मुझे सदैव अतृप्ति और आकाक्षा ही मिली है । असतोष ही मिला है ।

इस ससार मे सार यही है कि जब तक मेरा शरीर और मष्तिष्क सशक्त है तब तक स्व-पर उपकार में मैं उसका उपयोग कर सकूँ । यह मनुष्य का जीवन बहुत कठिनाई से प्राप्त होता है । एक-एक सांस के साथ मै इस दुर्लभ पर्याय का क्षय कर रहा हूँ । सब कुछ निरर्थक ही बीता जा रहा है । इसे सारहीन, झूठे सुखाभास की उपासना मे ही बिता देना है, या इसके द्वारा अविनश्वर सुख की दिशा में आगे बढने का कोई प्रयत्न करना है ?

3. Worldly Conditions

Pain to the poor without wealth,
and rich in the wit of desire.
Oh shall ye see amidst the world
Nay joice, but an anxiety sphere.

एकत्व भावना

आप अकेला अवतरै, मरैं अकेला होय।
यूं कबहूं इस जीव कौ, साथी सगा न कोय। -कविवर भूधरदास

प्राणी शुभाशुभ कर्म-फल सहता अकेला आप है,
साता-असाता बाँट सकता नहीं कोई आप है।
माता-पिता, सुत-सुता, सजनी-सजन, पति-पत्नी सभी,
दिखते सगे साथी मगर नहिं दुःख के साझी कभी। -राजधर जी

जन्म के बाद व्यक्ति के साथ कितने ही रिश्ते क्यो न जुड जाते हो परन्तु जन्म लेते समय सब नितान्त अकेले ही होते है। इसी प्रकार मरणकाल मे प्राणी के सारे रिश्ते समाप्त हो जाते है। उसे अपने अगले जन्म के लिये अकेले ही जाना पडता है। कोई मित्र या सबधी न तो पिछले जन्म से उसके साथ आता है और न ही मरण के बाद मैत्री या सबध निबाहे जा सकते हैं। वह सारी यात्रा तो इस जीव को हर-बार अकेले ही करना पडती है।

यात्रा मे हमे कुछ साथी मिल जाते है। थोडे समय के लिये हम उन्हे अपना मित्र मानने लगते है। इसी प्रकार जन्म लेने के बाद, माता-पिता के माध्यम से, और अपने शरीर के माध्यम से, हमारे कई सहोदर, सबंधी और मित्र बन जाते है। वे हमारे अत्यत निकट दिखाई देते हैं परन्तु अपना सुख-दुख हमे अकेले ही भोगना पड़ता है। उसका कोई साझीदार नही होता।

कवि मगतराय ने अपनी बारह भावना मे इसी प्रसग पर कहा-

जन्मैं मरै अकेला चेतन, सुख-दुख का भोगी,
और किसी का क्या, इक दिन यह देह जुदी होगी।
कमला चलत न पैंड़, जाय मरघट तक परिवारा,
अपने अपने हित को रोवैं, पिता-पुत्र दारा।
ज्यों मेले में पंथी जन मिल, नेह फिरैं धरते,
ज्यों तरुवर पर रैन बसेरा, पंछी आ करते।
कोस कोई, दो कोस कोई, फिर थक-थक कर हारैं,
जाय अकेला 'हंस', संग में कोई न पर मारैं।

कवि दौलतराम जी ने कहा- 'अपना शुभ और अशुभ कर्मफल जीव को अकेले ही भोगना पड़ता है। स्त्री और पुत्र भी उसमे साझीदार नही हो सकते। ससार के नाते-रिश्ते केवल स्वार्थ पर आधारित है'-

शुभ-अशुभ करमफल जेते, भोगै जिय एकहिं तेते,
सुत-दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी। -दौलतराम

तुलसीदास ने जग की स्वार्थ-वृत्ति को वृक्ष के माध्यम से उजागर करते हुए कहा- जब तक वृक्ष हरा-भरा है तब तक लोग उसकी पत्तिया काटकर अपने पशुओ को चराते हैं। पेड में फल लग जाये तो अपने उपयोग के लिये तोड लेते हैं, और वृक्ष मे आग लग जाये तो सर्दी मिटाने के लिये उस पर अपने हाथ-पैर सेकते हैं। हर हालत मे उससे अपने स्वार्थ की ही सिद्धि करते हैं। जग ऐसा ही स्वार्थ का मित्र है। नि स्वार्थ तो केवल प्रभु हैं, उनसे लगन लगाना चाहिये-

हरो चरहिं, तापत बरत, फरैं पसारहिं हाथ,
तुलसी स्वारथ मीत जग, परमारथ रघुनाथ।

बनारसीदास ने कहा- 'कैसी मूढता है कि अचेतन और अपवित्र शरीर से तू इतना ममत्व रखता है। बेसुध होकर तू तो मोह की पीड़ा से बेचैन हो रहा है। अपनी-अपनी होनहार से प्रेरित जो इस जन्म मे मिल गये, उन्हे कुटुम्ब कहता है। स्वयं तो अकेला जन्मता है, मर कर भी तुझे अकेला ही होना है, परन्तु ममता की परिधि मे सारे ससार को समेटना चाहता है। तीनो लोकों मे भटकता फिरता है, कही शरण नही मिलती, फिर भी ससार की वास्तविकता को समझना नही चाहता'-

या चेतन की सब सुधि गई, व्यापत मोह विकलता भई।
है जड़-रूप अपावन देह, तासों राखै परम सनेह।
आय मिलैं जन स्वारथ बंध, तिनहिं कुटुम्ब कहै मतिमंद।
आप अकेलौ जनमै-मरै, सकल लोक की ममता धरै।
भरमत फिरै, न पावइ ठौर, ठानै मूढ़ और की और। -बनारसी दास

कविवर भागचन्द्र ने एक प्राचीन पद में यही बात इस प्रकार कही थी- 'रे मन! तू सदा अकेला ही तो है। तेरा सगा साथी कोई नही है। अपने भाग्य का सुख या दुख तू अकेले ही तो भोगता है।

कुटुम्बी जनो मे से कोई भी उसमें साझीदार नही हो पाते। समय आने पर वे सब ऐसे बिछुड जाते हैं जैसे मेले मे एकत्र हुए लोग शाम होने पर, एक दूसरे से जुदे, अपनी-अपनी राह चले जाते हैं'-

जीव तू भ्रमत सदीव अकेला,
संग साथी कोई न तेरा . ।
अपना सुख-दुख आपहि भुगतै, होत कुटुम्ब न मेला।
समय परैं सब बिछुरि जात हैं, विघट जात ज्यों मेला। -प भागचन्द

एक शायर ने कहा है- 'समय पडने पर कौन किसका साथ देता है ? औरो की तो छोडिये, अँधेरा घिरने पर अपने तन की छाया भी जाने कहाँ विलीन हो जाती हैं'-

सियह-बख्ती में कब कोई किसी का साथ देता है,
कि तारीकी में साया भी जुदा होता है इन्साँ से। (सियहबख्ती=दुर्दिन)

एकत्व भावना मे यही चिन्तन करना है कि मैं अंतत अकेला ही हूँ। मै अकेले ही शुभ-अशुभ कर्म करता हूँ और समय आने पर अकेले ही उनके फल भोगता हूँ। मेरे अपने कहे जाने वाले लोग, मेरे हितैषी और शुभ-चिन्तक, कितना भी खेद करे, कैसी भी भावनाए प्रदर्शित करे, परन्तु वे मेरा कोई दुख और कष्ट कभी बॉट नहीं सकते। कर्म का फल भोगने के लिये भारी भीड मे भी, मै अकेला ही हूँ। जन्म और मरण में मेरा कोई सगा साथी नहीं है। अकेला आया हूँ और अवधि पूरी होने पर यहाँ से अकेले ही मुझे जाना है।

दो-चार दिन के लिये यात्रा पर निकलता हूँ तब मार्ग के लिये अनेक प्रकार की तैयारियॉ करके ही प्रस्थान करता हूँ। एक दिन अचानक इस अनजानी महायात्रा पर भी मुझे जाना है। उस यात्रा को टाला नही जा सकेगा। तब क्या उस यात्रा के लिये मैंने कोई तैयारी की है ? कब करूँगा मै वह प्रबध जो मेरे उस अनजाने पथ पर पाथेय बन सके ?

4. Solitery Condition of Soul

Single Cometh ye,
and goeth alone;
None saw a companion
That followeth the Soul.

५

अन्यत्व भावना

जहॉ देह अपनी नहीं, तहॉ न अपनौ कोय,
घर-सम्पति पर, प्रकट ये पर हैं परिजन लोय।

-कविवर भूधरदास

प्राणी तथा पुद्गल परस्पर में सदा से हैं मिले,
पर हैं पृथक के पृथक दोनों, नीर-पय ज्यों हों हिले।
अतएव जब संसार में तन भी तुम्हारा है नहीं,
तब धन तथा परिजन तुम्हारे भला हो सकते कहीं ? -राजधर जी

माता के उदर मे जन्म के पूर्व ही जो मुझे प्राप्त हो गई थी, और मरणकाल तक जो मुझसे प्रथक नही होगी, ऐसी देह भी मेरी अपनी नही है। उसे भी एक दिन यही छोडकर जाना होगा।

जब यह देह ही अपनी नही है, तब और कोई प्राणी या पदार्थ मेरे अपने हो सकते हैं ऐसी कल्पना ही व्यर्थ है। यह भवन और भूमि, वाहन, वसन और व्यापार, ये सब तो प्रकट रूप से 'पर' है ही, किन्तु ये सभी सबधी, परिवारजन, नाते-रिश्तेदार, मित्र और समाज, वे सब जिनके साथ मैंने अपने एकतत्व की कल्पना कर रखी है, वे भी मुझसे जुदे, ही है। मेरा अस्तित्व अलग है, उनका अस्तित्व अलग है।

कबीर ने कहा- 'छोटे से जीवन मे माया का ढेर और मेरे-तेरे के रिश्ते जोडना ही व्यर्थ है। धन-सम्पति की तो बात ही क्या, एक दिन यह देह भी यही छूट जायेगी। सबको अकेले ही यहॉ से जाना पडेगा। एक दिन यह सिद्ध हो जायेगा कि यहाँ कोई किसी का नही है। ससार मे सब अकेले ही है। घर की नारी की तो बात ही क्या, एक दिन तन की नाडी भी छूट जाने वाली है'-

इक दिन ऐसा होयेगा, कोउ काहू का नांहिं,
घर की नारी को कहै, तन की नारी जाहि।

तुलसीदासजी ने एक स्थान पर कहा- 'जड़ और चेतन दोनो प्रथक स्वभाव वाले द्रव्य हैं। दोनो की सजात से हमारे जीवन का

निर्माण हुआ है । यद्यपि वह भागीदारी अवास्तविक है, पर इस गाँठ का खोलना, इस द्वैत को सही-सही समझना, अत्यत कठिन है'-

जड़-चेतनहिं ग्रन्थि परि गइ,
जदपि मृषा, छूटत कठिनई ।

मगतरायजी ने अपनी सुगम शब्दावली मे कहा-

तू चेतन, यह देह अचेतन, यह जड़, तू ज्ञानी,
मिले अनादि, जतन सों बिछुरे, ज्यों पय अरु पानी ।
रूप तुम्हारा सबसों न्यारा, भेद-ज्ञान करना,
जौलों पौरुष थकै न तौलों, उद्यम सों चरना ।

जगत के समस्त चेतन प्राणियो को और अचेतन पदार्थों को अपने से प्रथक, भिन्न समझना ही अन्यत्व भावना का अभिप्राय है । जैमे म्यान मे रहने वाली तलवार म्यान से अलग है, उसी प्रकार शरीर मे रहने वाली आत्मा भी अपने शरीर से अलग है । आत्मा चेतन है शरीर अचेतन है । आत्मा ज्ञानमय है, शरीर ज्ञान-शून्य है । आत्मा स्वाधीन है, शरीर इन्द्रियो के अधीन है । आत्मा सदा मेरा अपना है, शरीर मेरा नही है ।

क्रोध-मान, माया-लोभ, राग-द्वेष, ये सब आत्मा मे उत्पन्न होने वाले विकार है । भूख-प्यास, सर्द्दी-गर्मी और कष्ट तथा रोग आदि शरीर के विकार है । आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य है । आत्मा अविनश्वर है, शरीर नाशवान है ।

एक प्राचीन पद मे कहा गया कि- शरीर मे ममता रखने का कोई अर्थ नहीं । इस नासमझी को छोडना चाहिये । यह तुझसे बिलकुल प्रथक है, और नाशवान है । इसका कितना ही पोषण तू करता रहे पर इसमें तरह-तरह के मल ही उत्पन्न होगे । अनादिकाल से इसी की ममता के कारण तू कर्म की डोर में उलझा हुआ है, क्योंकि ससार के सारे नाते रिश्ते शरीर के ही माध्यम से जुडते है । यह सदा अचेतन है, तू चेतन होकर भी, मोह के कारण, बलात् इसे अपना मान रहा है -

छाँड़ि दै या मति भोरी, वृथा तन सों रति जोरी ।
यह पर है, न रहै थिर, पोषत सकल कु मल की झोरी ।
यासों ममता करि अनादि तैं, बंध्यौं करम की डोरी ।
यह जड़ है, तू चेतन, यों ही अपनावत बरजोरी । -दौलतराम

मेरे जन्म के पूर्व, जब यह शरीर नही था, तब भी आत्मा के रूप मे 'मै' था। मरण के बाद जिस गति मे, जिस शरीर मे मुझे नया जन्म लेना है, वहाँ भी मैं अपने सम्पूर्ण चैतन्य के साथ, 'मै' ही रहूँगा। मेरा कभी न जन्म हुआ, न कभी मेरा विनाश होगा।

जब एकमेक दिखाई देने वाला यह शरीर ही अपना नही है, तब स्पष्ट ही प्रथक दिखाई देने वाले पति या पत्नी, पुत्र या पुत्री, धन और सम्पत्ति मेरे अपने कैसे हो सकते हैं ? जब उनका सयोग सदा रहना नही है तब उनके साथ मोह-ममता का अर्थ ही क्या रहा ?

जैसे किरायेंदार मकान के साथ व्यामोह नहीं बढाता, उसे पराया समझता हुआ ही उसमे निवास करता है, उसी प्रकार मुझे इस शरीर को अपने से प्रथक समझते हुए, इसके माध्यम से अपना उत्कर्ष करने का प्रयत्न करना चाहिये। भगवत्-भक्ति, जप-तप, पूजन-दान और परोपकार के कार्यो मे समय रहते आत्म-कल्याण मे इस शरीर का उपयोग कर लेना ही समझदारी है।

5. Soul being seperate from body

Whence the body thou not,
How others are thee;
House, wealth and else visible
Are aloof from the unseen ye.

६

अशुचि भावना

दिपै चाम चादर मढ़ी, हाड़ पींजरा देह,
भीतर यासम जगत में, और नहीं घिनगेह । -कविवर भूधरदास

जो पल रुधिर-मल-राध अथवा कीकशादिक से भरी,
संसार में जिसने सदा ही अशुचिता पैदा करी ।
जो सदा ही नौ मार्ग से नित मल बहाती ही रहे,
ऐसी अपावन देह को, हे जीव तू क्यों कर चहे ? -राजधर जी

गोरी-काली या सॉवली चमडी से मढा हुआ यह शरीर सुभग और सुन्दर लगता है, परन्तु वास्तव मे तो यह हड्डियो का पिजर मात्र ही है । ऊपर का चर्मावरण ही शरीर को आकर्षक और प्रभावक बनाये रखता है अन्यथा भीतर से वह मल-मूत्र आदि घिनावने पदार्थो को उत्पन्न करने वाला सस्थान है । तरह-तरह के शारीरिक मल उसके नव-द्वारो से सदा स्रवित होते रहते हैं । शरीर का यही वास्तविक रूप है ।

भूधरदासजी ने बज्रनाभि चक्रवर्ती के वैराग्य-परक चिन्तवन को रूपायित करते हुए देह का परिचय दिया- 'यह अत्यत अपवित्र, प्रतिक्षण क्षीण होने वाली और घिनावनी है । इसके आश्रित भोग निस्सार है । समुद्र के जल से भी धोया जाय तो भी इसकी अशुचिता नही जा सकती । सात धातुओ और अनेक मलो से निर्मित यह देह सुन्दर चमडी के कारण भले ही सुहानी लगे, परन्तु यदि अतरग मे विचार करे तो जगत मे इसके समान अपवित्र कोई दूसरा पदार्थ मिलना कठिन है ।'

-जहाँ नौ द्वारो से निरतर ऐसे मल विसर्जित होते रहते है जिनका नाम भी घृणास्पद है, जहाँ अनेक व्याधियो का निवास हो, वहाँ रच-पचकर सुखी होने की अभिलाषा कौन विवेकवान करेगा ?

देह अपावन, अथिर घिनावन, यामें सार न कोई।
सागर के जल सों सुचि कीजै, तो भी शुद्ध न होई।
सात कुधातुमई मल-मूरति, चाम लपेटी सोहै।
भीतर देखत या सम जग में, और अपावन को है ?
नव मल-द्वार स्रवैं निसि-वासर, नाम लियैं घिन आवै।
व्याधि-उपाधि अनेक जहाँ तहँ, कौन सुधी सुख पावै।
राचन जोग सरूप न याकौ, विरचन जोग सही है।
यह तन पाय तनिक तप कीजै, यामें सार यही है॥

-पार्श्वपुराण/3 86-90

इस शरीर का स्वरूप मोहित होने जैसा नही है। इसका व्यामोह त्यागना ही चाहिये। यदि मुझे सबल और समर्थ शरीर मिला है तो उसके माध्यम से जितनी बन सके उतनी साधना कर लेनी चाहिये। यही सार इस शरीर से प्राप्त किया जा सकता है।

रत्नावली की सौन्दर्य-सरिता मे आकण्ठ डूबे तुलसीदास, एक दिन सारी लोकलाज खोकर, मौत को भी चकमा देकर, असमय मे पत्नी की अटारी पर पहुँच गये। तब उस विवेकवान महिला ने यही कहकर उन्हे भक्ति के सन्मार्ग पर लगाया था कि - 'मेरे इस हाड-मास के शरीर मे जितनी तुम्हारी आसक्ति है, उससे आधी भी यदि भगवान् मे होती तो तुम्हारा बेडा पार हो गया होता।'

अस्थि-चर्म मय देह मम, ता में ऐसी प्रीति,
होति जो कहुं रघुनाथ सँग, रहति न तौ भव-भीति। -रत्नावली

आत्म-साधना, भगवद्-भक्ति और परोपकार मे नियोजित कर लेना ही इस शरीर की उपयोगिता है। यह स्वभाव से तो मलिन था ही, मैने इन्द्रियों के वश होकर विषय भोगो से इसे और भी मलिन बना रखा है। मैने आत्महित मे कभी इसका उपयोग नही किया।

इसी प्रकार स्वभाव से निर्मल और पवित्र अपनी आत्मा को भी मैंने अज्ञान जनित वासनाओ से प्रेरित होकर, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, भय, चिन्ता, घृणा और रति-अरति आदि विकारो से मलिन बना लिया है। इसी लिये ससार मे मेरी दुर्दशा हो रही है।

मैंने अपनी देह को बार-बार धोया-नहलाया। सुगधित पदार्थो का उस पर लेपन किया। परन्तु माला-चन्दन आदि वे पदार्थ ही मेरे स्पर्श मात्र से अपनी पवित्रता खो बैठे। शरीर की अशुचिता जरा भी कम नही हुई।

यदि मै अपने आपको एक बार भी राग-द्वेष आदि विकारो से, और परिग्रह के व्यामोह से रहित कर सकूं तो मेरी सारी अतरग और बहिरंग मलिनताए सदा के लिये दूर हो सकती है। जिन्होंने अपनी सॉसारिक मोह-ममता को क्षीण कर लिया वे संसार के दु:खों से भी ऊपर उठ गये। क्या मुझे अपने लिये भी यह प्रयत्न नही करना चहिए ?

6. The Impurity of body

Encased within the film of Skin
Body - a Skeleton of Flesh and bone;
Nowhere is seen an ugly a thing,
Throughout the Wordly zone.

७

आस्रव भावना

मोह नींद के जोर, जगवासी घूमैं सदा,
करम चोर चहुँ ओर, सरवस लूटैं सुधि नहीं।

-कविवर भूधरदास

मन-वचन-तन त्रय योग द्वारा, कर्म जल नित आ रहा,
नर-देह नौका से तुम्हें, जग-जलधि बीच डुबा रहा।
जिससे तुम्हें था पार होना, डूब तुम एसमें रहे,
सोचो जरा जग-जलधि में, नौका न किसकी थक रहे ?

-राजधर जी

मन, वाणी और शरीर, यही तीन हमारी शक्तियाँ है। हम दिन-रात जो कुछ भी शुभ या अशुभ करते हैं, वह इन्हीं तीन शक्तियों के द्वारा करते हैं। इन्ही तीन की सक्रियता या अस्थिरता से हम अपने लिये नवीन कर्मो का अर्जन भी कर लेते हैं।

हमारे ये मन-वचन-काय, हमारे जाने-अनजाने, सोते-जागते आठो याम सक्रिय रहते हैं, इसलिये हमारी आत्मा की ओर नवीन कर्मो का प्रवाह भी निरन्तर, आठों-याम होता रहता है। यही कर्म का आस्रव है। आये हुए कर्मो का अपनी शक्तियो सहित, किसी निश्चित अवधि के लिये, आत्मा के साथ अनुबधित हो जाना 'कर्म-बंध' है।

जहाँ हम भगवत्-भक्ति आत्म-चिन्तन, जप-तप और दान -पूजा परोपकार आदि शुभ कार्य करते होते हैं, तब शुभकर्म का अर्जन होता है। शुभ कार्यों के बिना हमारा जो भी समय बीतता है, उसमे हम नियम से अशुभ कर्म का आस्रव करते हैं। हमारे पूर्व कर्मों का उदय, वर्तमान में पुरुषार्थ की विपरीतता, और राग-द्वेष-मोह के सस्कार, आस्रव और बंध के कारण हैं।

यह लगभग ऐसा है जैसे किसी छिद्र वाली नौका मे, अन्य किसी कारण के बिना, निरन्तर, अपने आप पानी भरता रहता है। उससे नाव भारी हो जाती है। उसके डूबने की आशंका होने लगती है।

राग-द्वेष और मोह, अथवा पुण्य और पाप मेरे व्यक्तित्व के छिद्र ही तो हैं। इनके रहते मै परिपूर्ण कहाँ हो पाता हूँ ? मेरे व्यक्तित्व के इन्ही छिद्रो से, या आत्मा की इन्ही मलिनताओ के कारण, मै प्रतिक्षण नवीन कर्मो का आस्रव और बध कर रहा हूँ। अनादि काल से यही मेरे साथ घट रहा है।

मोह-निद्रा मे गाफिल मै, अपनी सुध-बुध भूलकर भटक रहा हूँ, और नित नये कर्मो का समूह आकर मेरे ज्ञान, विवेक और क्षमा, समता आदि गुणो को लूट रहे हैं। बुधजन ने बहुत ठीक कहा है -

मोह नींद में सोवतां, बीत्यौ काल अटूट,
बुधजन क्यों जागै नहीं, कर्म मचावत लूट। -अध्यात्म पदावली

-रे मूरख मन ! तू मानता क्यो नही ? मोह की मदिरा पीकर तू अचेत हो रहा है। तुझे अपनी भी सुध-बुध नही है। अज्ञान और असयम के कारण तू अनादिकाल से दुखी है, अब इस जनम मे भी उन्ही मे आसक्त हो रहा है। तूने अपने ज्ञान-अमृत का स्वाद नही चखा और विषय-कषायो मे लुभाया रहा। यह शरीर, तो रोगो का घर है। विपत्तियो का आगार है। यह तो स्वभाव से ही जड, मलिन और निरतर क्षीण होने वाला है। कर्मोदय से मिला हुआ शरीर, तेरी नासमझी से, तेरा बधन बनकर आत्म-मुख मे बाधक हो रहा है-

मानत क्यों नहिं रे, मन-मूरख, सीख सयानी।
भयौ अचेत मोह-मद पी कें, अपनी सुध बिसरानी।
देह एह गद-गेह, नेह इस, है बहु बिपति निसानी,
जड़ मलीन, छिन-छीन, करम-कृत, बंधन सिव-सुख हानी।

जड शरीर के माध्यम से कर्म के आस्रव का आधार क्या है -

यों अजीव, अब आस्रव सुनिये, मन-वच-काय त्रियोगा,
मिथ्या, अविरति अरु कषाय, प्रमाद सहित उपयोगा।
ये ही आतम कों दुख कारण, तातें इनको तजिये।
जीव प्रदेश बँधै विधि सों, सो बंधन कबहुँ न सजिये।

-प दौलतराम/छहढाला/2-8

मन, वाणी और शरीर, ये तीनो योग कहे गये है। चेतना की परिणति को उपयोग कहा गया है। योगो की प्रवृत्ति तो ससारी प्राणी

को अनवरत रूप से बनी रहती है । मन-वचन-काय का स्पन्दन किसी भी प्राणी के, कभी एक क्षण के लिये भी रुकता नही है ।

जीव की चेतना का उपयोग शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का होता है । । जीव और जगत के बारे मे विपरीत मान्यताए ही 'मिथ्यात्व' कही गई हैं । सयम से रहित मन-वचन-काय की असयत प्रवृत्तियाँ ही 'अविरति' है । आत्मा का अहित करने वाले क्रोध-मान-माया और लोभ, ये 'कषाय' है । साधना के प्रति उपेक्षा का भाव 'प्रमाद' है ।

इन मिथ्या, अविरति, प्रमाद और कषाय भावो से विकारी हुआ उपयोग, 'अशुद्ध उपयोग' कहा गया है । इस प्रकार तीन योग और चारों प्रकार का विकारी उपयोग नवीन कर्मो के आस्रव और बध का कारण होता है ।

भूधरदासजी ने मिथ्यात्व, असयम तथा कषाय आदि मन की मलिनताओ को, तथा मन-वाणी और शरीर की अस्थिरता को, आस्रव का कारण बताने के बाद कहा- आस्रव कर्म-बध का कारण है और कर्म-बध ही चारो गतियो मे दुख का हेतु है -

मिथ्या, अविरति, जोग, कषाय, ये आस्रव कारन-समुदाय ।
आस्रव करम बंध को हेतु, बंध चतुर्गति के दुख देत ।

-पार्श्व पुराण/7-100

इस प्रकार आस्रव से बध होता है और हमारे सचित कर्मो का भार बढता जाता है । सचित कर्म समय पाकर पकते है, वही प्रारब्ध है । प्रारब्ध का फल भोगने के लिये हमे बार-बार जन्म लेना पडता है और मर कर उन्ही कर्मो के अनुसार दूसरी-दूसरी गतियो मे पुन जन्म लेना पडता है । अनादि काल से हमारे साथ अविद्या का यही जटिल खेल चल रहा है । आस्रव का यह अतहीन प्रवाह इसी प्रकार चलता रहेगा या मेरे लिये इससे बचने का कोई उपाय भी है ? क्या है वह उपाय ?

7. Enflow of Karmas

Heated with various thoughts on Earth
Thou ever suffered Death and Birth ;
Ah Chains of Desire electrified alround,
Plundered ye, and thou Knew not.

८

संवर भावना

सतगुरु देहिं जगाय, मोह नींद जब उपसमै,
तब कछु बनहि उपाय, करम चोर आवत रुकैं ।

-कविवर भूधरदास

त्रय-गुप्ति पंच-समिति, परीषह और चारित से सभी,
रोक दो मन-काय-वच से, छिद्र नौका के सभी ।
भारी न होकर यह तुम्हारी नाव तिरने के लिये-
जिससे समर्थ बने, तुम्हें भव-पार करने के लिए । -राजधर जी

मोह के नशे मे, अपने आपको भूलकर, संसार परिभ्रमण करते हुए जीव को जब कभी भगवान की भक्ति का सहारा मिल जाये, भगवान की वाणी पर विचार करने का पुरुषार्थ जाग जाये, या पूर्व जन्मो के वैसे संस्कार जाग्रत हो जाएं, तब सद्गुरुओ की टेर से यह मोह-निद्रा टूटती है ।

आने वाले कर्मो मे से कुछ अशुभ कर्मो का आस्रव रुक जाये, यह सवर का प्रारम्भ है । सवर के द्वारा नवीन कर्म-बध कम होने लगता है । उधर प्रारब्ध निरतर उदय मे आकर घटता रहता है । इस प्रक्रिया से सचित कर्म मे होने वाली बढोत्तरी पर अकुश लग जाता है । इसलिये सवर को उपकारी या उपादेय कहा गया है ।

आस्रव के पाँच कारण बताये थे, मिथ्यात्व, असयम, प्रमाद, कषाय और योग । इन कारणो का निवारण भी इसी क्रम से होता है । मोह निद्रा का, या अविद्या का अभाव होने पर मिथ्यात्व चला जाता है । त्याग और सयम के द्वारा असयम की समाप्ति होती है ।

निरालस-साधना के द्वारा अपने आप मे लीन हो जाने पर, समाधि के क्षणो मे, प्रमाद छोड कर साधक अप्रमत्त दशा में पहुँच जाता है ।

कषायो का पूरी तरह अभाव हो जाने पर, आस्रव का मात्र एक कारण बचता है । वहाँ योगो की प्रवृत्ति ही शेष रह जाती है । मात्र योगों

के द्वारा आने वाले कर्म, राग-द्वेष-मोह और प्रमाद के अभाव मे, आत्मा के साथ एक क्षण के लिये भी बँध नही पाते। आते है और अनादृत-अतिथि की तरह बाहर से ही लौट जाते है। यही पूर्ण सवर है।

मुक्ति के एक क्षण पूर्व, मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है। उसी समय जीव शरीर-बधन से सदा के लिये मुक्त हो जाता है।

वास्तव मे जीवन को कौशल के साथ, स्व-पर हितकारी बनाकर, विवेक-पूर्वक जीने की पद्धति ही संवर की पद्धति है।

किसी व्यक्ति पर एक लाख रुपये का ऋण है। वह हजार रुपये प्रतिदिन कमाता है, परन्तु एक हजार, या इससे कुछ अधिक, प्रतिदिन खर्च भी कर देता है। यदि कोई पूछे कि उसका ऋण कब चुकेगा, तो उत्तर यही होगा कि वह कभी भी ऋणमुक्त नही हो सकेगा। ऋण चुकाने का एक ही मार्ग है कि वह अपनी आय से कुछ कम व्यय करे। थोडी-थोडी राशि भी बचाता जाये तो एक दिन वह अवश्य ऋण-मुक्त हो सकता है।

पूर्व मे अर्जित कर्मो का मुझ पर भारी ऋण है। सचित कर्म के रूप मे जन्मान्तर से वे मेरे साथ लगे है। यद्यपि प्रतिक्षण उदय में आये हुए कर्मो का फल भोगकर मै यह ऋण आठो याम चुका रहा हू, परन्तु कर्म-फल भोगते समय मै बहुत विक्षुब्ध हो जाता हूँ। उस समय मै अपने आपको अहकार या सक्लेश में डुबो लेता हूँ। इसका फल यह होता है कि जितना कर्म मै भोगता हूँ, लगभग उतना ही नवीन कर्म मेरे साथ बँध जाता है। प्राय ऐसा भी होता है कि जितना कर्म मै भोगकर समाप्त करता हूँ, कर्म-फल मे राग या द्वेष करके, उसी समय, उससे अधिक नवीन कर्म बाँध लेता हूँ।

मेरे साथ ऐसा हो रहा है कि निरतर अच्छे और बुरे कर्म-फल भोगते हुए भी, मेरे कर्मो का भार घट नही रहा। वह बढता ही जाता है। यदि किसी प्रकार ऐसा हो सके कि मै जितना कर्म भोगकर चुकाऊं, नवीन कर्म उससे कम मात्रा मे बाँधूं तब अवश्य धीरे-धीरे मेरे कर्मो का भार हल्का हो सकेगा। आस्था और समझदारी के साथ जीने की एक ऐसी पद्धति है जिसे अगीकार कर लेने पर, किसी हद तक, कर्मों का आगमन रोकना सम्भव है। उस पद्धति का नाम 'सवर' है।

यह लगभग ऐसा ही है जैसे किसी छिद्र वाली नौका मे, उसके छिद्र मूँदकर, पानी आने के मार्ग रुद्ध कर दिये जाये। नौका में पानी आना बद हो जायेगा और नाव मे भार बढने की प्रक्रिया रुक जायेगी।

हर बीज से एक पौधा तैयार होता है। उसमे सैकडो बीज लगते हैं। उन सबके द्वारा उतने ही पौधे तैयार हो सकते है। यह एक अनन्त-श्रृखला चल सकती है। परन्तु जो बीज अग्नि पर भून दिया जाता है वह फिर उगता नही है। उस बीज की श्रृखला वही टूट जाती है। इसी प्रकार कर्मों की श्रृखला को ताडना सवर कहा गया है।

उदय मे आया हुआ कर्म भी एक बीज की तरह है। अपने समय पर पक कर वह अपना स्वाद चखाने के लिये आया है। अपनी शक्ति के अनुसार वह मुझे सुखी या दुखी कर रहा है। परन्तु उसका फल भोगते समय मै अहकार या संक्लेश की ऐसी मिट्टी मे उसे रोपता हूँ, और हर्ष या विषाद का ऐसा खाद-पानी उसमे देता हूँ, कि वह कई गुना होकर मेरे सचित कर्म मे शामिल हो जाता है।

यदि कर्म के उदय और आस्रव-बंध की इस प्रक्रिया पर मेरी आस्था दृढ हो जाये तो मै इस अनन्त श्रृंखला को तोडने का उपाय कर सकता हूँ। यह तो सृष्टि का अटल नियम है कि हर जीव को अपने शुभाशुभ कर्म का फल भोगना ही पडता है। तब क्यो न उसे विधि का विधान मानकर मै समता-पूर्वक भोगने की आदत डालूँ ? कर्म के फल मे हर्ष-विषाद या रति-अरति करके, कर्म की नई पौध तैयार करने की यह नासमझी छोड दूँ ? क्यो न समतापूर्वक कर्म का फल भोगकर मै उसे यही नि सत्व कर दूँ ?

कर्म के फल को भोगते हुए दो ही स्थितियाँ बन सकती हैं। या तो मै उसे आगे के लिये अपनी भावभूमि मे बो लेता हूँ, या फिर अपने समता-सकल्प की आँच पर भूनकर उसके पुन उगने की सारी सम्भावनाए समाप्त कर देता हूँ। कबीर ने एक जगह इसी रहस्य को उजागर किया है-

एक कर्म है बोवना, उपजै बीज बहूत
एक कर्म है भूंजना, उगै न अंकुर सूत।

कर्मास्रव के पाँच कारण बताये गये थे। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन पाँच के उत्तर भेद सत्तावन होते हैं।

सॅवर के भी इतने ही भेद है । दैनिक व्यवहार मे प"च प्रकार की सावधानियॉ, पच समिति है । अहिसा, सत्य, अस्तेय, शील और अपरिग्रह ये पाँच व्रत है । इनके साथ क्षमा आदि दस धर्म, बारह भावनाएँ, साधना-पथ मे सम्भावित बाइस प्रकार की असुविधाओ परिषहो पर विजय, और मन, वचन तथा काय को स्थिर और एकाग्र करने वाली तीन गुप्तियॉ, ये सब मिलकर सवर के सत्तावन उपाय कहे गये हैं ।

पंच महाव्रत, समिति, गुप्तिकर, वचन-काय-मनको,
दसविधि धर्म परीषह-बाइस, बारह भावनको ।
यह सब भाव सतावन मिलकर, आस्रव को खोते,
सुपन दशा से जागो चेतन, कहाँ पड़े सोते । -मगतराय/बारह भावना

पण्डित दौलतरामजी की व्याख्या बहुत सरल है- जिन्होंने पुण्य और पाप दोनो की आसक्ति तोडकर आत्म-साक्षात्कार करने का प्रयास किया, उनके आते हुए कर्म रुक गए । उन्हे सवर प्राप्त हो गया । उन्होंने समता के अलौकिक सुख का आनन्द उठा लिया -

जिन पुण्य पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना ।
तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके । -छहढाला/5-८

सॅवर के समीकरण कठिन नही है । यदि शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के कर्मो से आसक्ति हटाकर, मै अपनी निरुद्विग्न आत्मा का अनुभव कर सकूँ, उसके चिंतन में तल्लीन हो सकूँ, तो आने वाला कर्मो का प्रवाह मद होगा, और रुकेगा । यही सवर है, यही सवर का फल है ।

8. Storage of Karmas

Whence light reflected by the Science Divine,
Broke the desires unto the dust;
Onward it traced a path to tread
For the Soul to escape from the idea's crust.

निर्जरा भावना

ज्ञान दीप, तप तेल भर, घर सोधै, भ्रम छोर,
या विधि बिन निकसैं नहीं, पैठे पूरब चोर।
पंच महाव्रत संचरन, समिति पंच परकार,
प्रबल पंच-इन्द्रिय विजय, धार निर्जरा सार। -कविवर भूधरदास

पूर्व का संचित किया जो, कर्म रूपी नीर है,
जिससे तुम्हारी नाव देखो, डूबने में लीन है।
संकल्प में जुट कर अहर्निशि, जब उलीचोगे सभी,
संसार-सागर पार यह, नौका तुम्हारी हो तभी। -राजधर जी

साधना के मार्ग मे ज्ञान को दीप बनाना है। उसमें विराग का तेल भरना है। इस दीपक के सहारे ही मोह के अधकार को काटकर, मै अपना आत्मावलोकन कर पाऊँगा। इसके बिना पूर्व से बैठे हुए कर्म रूपी चोर बाहर नही निकलते। अपनी साधना मे ज्ञान और वैराग्य का सामजस्य बिठाकर ही मै अपने सचित कर्मो का नि सत्व कर सकता हूँ। ध्यान-समाधि की विशुद्ध भूमिकाओ मे बैठकर, तप-त्याग आदि अनुष्ठानो के द्वारा, कर्म के समूह को, फल देने के पहले ही समाप्त कर देना है। इस विष-बीज को अँकुराने के पहले ही जला देना है, उसकी घातक शक्तियों को नष्ट कर देना है। मुक्ति-मार्ग की इसी वैज्ञानिक प्रक्रिया का नाम निर्जरा है।

यह लगभग ऐसा है जैसे छिद्र वाली नौका मे, छेद मूँदने से जब पानी आना बन्द हो गया है, उसमे भरे हुए पानी को उलीचकर निकालना जिससे नौका भार-रहित होकर सतरण के योग्य हो जाये।

अनेक जन्मों मे अर्जित किये हुए मेरे कुटिल कर्मो की निर्जरा के लिये ज्ञान के साथ उत्कृष्ट चारित्र भी अनिवार्य है। भूधरदासजी ने कहा-तप के द्वारा पूर्व के बँधे हुए कर्म नष्ट होंगे, और यथार्थ ज्ञान के रहते नवीन कर्मों का बध नहीं होगा। ऐसी आस्रव-रहित, या

सवर-सहित निर्जरा ही अक्षय सुख का हेतु बन सकती है। वही निर्जरा मुझे भव-सागर से तारने मे सहायक होगी -

तप बल पूर्व कर्म खिर जाहि, नये ज्ञान बल आवत नाहि।
यही निर्जरा सुख दातार, भव तारन कारन निरधार।

-भूधरदासजी/पार्श्व पुराण/7-102

वैसे तो ससार के प्रत्येक प्राणी के कर्म, उदय मे आकर, अपना फल देकर प्रति समय खिरते ही रहते है। सब को सदा निर्जरा हो रही है। परन्तु साधना के मार्ग मे ऐसी सहज निर्जरा, या 'सविपाक निर्जरा' का कोई महत्व नही है। यहाँ तो वह निर्जरा प्राप्त करना है जिसमे तप के माध्यम से, असमय मे, कर्म की सत्ता को, फल देने के पहले ही नष्ट कर दिया जाये।

दौलतरामजी ने यही तो कहा- अपने समय पर, क्रम से तो कर्म झरते ही रहते हैं। उस निर्जरा से अपना कोई काम नही बनता। जो साधक तप की आराधना करके कर्मो की निर्जरा करेगा, वही मुक्ति का पात्र होगा।

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
तप करि जो करम खिपावै, सोई शिव-सुख दरसावै। -छहढाला

यह ऐसा है जैसे आम का फल डाल पर पकता है, तब उसमे समय लगता है। उसी फल को किसान पाल मे डालकर शीघ्र पका लेता है। इसी तरह तप के द्वारा समय से पूर्व ही कर्म की धारा को सुखा देना 'अविपाक-निर्जरा' है। वही हमारे लिये आराध्य है।

मगतरामजी ने कहा- सवर आते हुये कर्मो को रोक देता है। फिर जैसे ग्रीष्म की तपन से सरोवर का जल सूख जाता है, उसी तरह निर्जरा सत्ता मे बैठे हुये कर्मो को सुखाकर नि सत्व कर देती है। उदय मे आये कर्म का भोग तो सविपाक निर्जरा है, जैसे कोई फल डाल पर पक गया हो। लेकिन कार्यकारी तो दूसरी अविपाक निर्जरा है, जैसे माली ने पाल मे डालकर पूर्व ही फल को पका लिया हो। पहले प्रकार की निर्जरा तो सबको हर समय होती रहती है, इससे तेरा कोई लाभ नही। हाँ यदि तू पुरुषार्थ करके, अविपाक निर्जरा कर सके तो तेरा भव-भ्रमण समाप्त हो सकता है। ऐसा पुरुषार्थ करने की क्षमता इस जन्म मे तेरे पास है।

ज्यों सरवर जल रुका सूखता, तपन पड़े भारी,
संवर रोकै कर्म, निर्जरा ह्वै सोखनहारी ।
उदय-भोग सविपाक, समय पक जाय आम डाली,
दूजी है अविपाक, पकावे पाल विषैं माली ।
पहली सबके होय, नहीं कुछ सरै काम तेरा ।
दूजी करै जु उद्यम करकै, मिटै जगत फेरा ॥

निर्जरा के लिये जीवन मे संयम का आना अनिवार्य है । ज्ञान की बडी-बडी बाते करने से कुछ नही होगा । दुर्लभ मनुष्य पर्याय का महत्व ऑकना होगा । समय रहते आत्म-कल्याण के लिये पुरुषार्थ करना होगा ।

धर्म और साधना की बाते, जितनी तू समझता है, उन सबको अपने सकल्प मे उतार । जितना सकल्प किया है उस पर ईमानदारी से आचरण कर । मनुष्य भव मे ही यह अवसर मिलता है । यह बीत गया तो अनन्त काल तक दुबारा मिलने वाला नही । जितना ले सके, समय रहते इस दुर्लभ पर्याय का लाभ ले लेना ही समझदारी है । कबीर का यही परामर्श है-

गाँठि होय सो हाथ कर, हाथ होय सो देह,
आगे हाट न बानियाँ, लेना होय सो लेह ।

जीवन मे आतरिक पवित्रता का आविष्कार करके, सम्यक् पुरुषार्थ की ऊष्मा से, सचित कर्मो के समूह को नष्ट करने का प्रयास ही निर्जरा भावना का वास्तविक चिन्तन है ।

अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पॉच बातो की मर्यादा मे बॅधा हुआ आचरण, प्राणि-हिसा को बचाते हुए सुविचारित और सयमित जीवन-पद्धति, तथा पॉचो इन्द्रियो पर नियत्रण, यही निर्जरा के उपाय है । इन उपायो का निरतर चिन्तवन करते हुए मै अपने लिये ऐसे सयमित जीवन की अभिलाषा करता हूँ ।

9. Shedding of Karmas

Followed by the lamp of Wisdom,
And sacrifice - as oil lit;
Ran ye to get out the prison
Of the atomic idea's knit.

१०

लोक भावना

चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष संठान,
ता में जीव अनादि सों, भरमत है बिन-ज्ञान ।

-कविवर भूधरदास

नभ में चतुर्दश राजु परिमित एक लोकाकाश है,
है स्वयंसिद्धि अनादि से कर्त्ता न हर्त्ता खास है ।
धर स्वांग नानाभांति इसमें जीव सहता त्रास है,
इसके उपरि अष्टम धरा ही सिद्ध सुख की रास है ।। -राजधर जी

पाताल से लेकर परमस्थान की ऊँचाई तक यह लोक चौदह राजू ऊँचा कहा गया है । इसका आकार कमर पर हाथ रख कर खडे हुए पुरुष के समान बताया गया है । इसी लोक मे अपने ही अज्ञान के कारण जीव अनादिकाल से भ्रमण कर रहे हैं ।

विराट् ब्रह्माण्ड मे जन्म-मरण करते हुए अनन्त जीवो की, भूत-भविष्य और वर्तमान की पीडाओ का विचार करना ही लोक-भावना का हेतु है । सृष्टि के अनन्त विस्तार मे अपनी स्थिति का आकलन करना, और अपनी पीडा का कारण ढूँढना इसका मूल अभिप्राय है ।

भागवत् मे विश्व-रूप दर्शन का यही अभिप्राय है । गीता मे लोक की व्याख्या करते हुए कहा गया- इस ससार रूपी वृक्ष की शाखाए ऊपर और नीचे सब ओर फैली हुई है । तमस्-रजस् और सत्व गुणो द्वारा इस वृक्ष का पोषण होता है । पॉचो इन्द्रियो के विषय इस वृक्ष की टहनियॉ हैं । विषय-भोगो से ही इसका विस्तार होता है । इसकी जडे बहुत गहरी है, मनुष्य जन्म मे ही शुभाशुभ कर्मो के अनुसार इसके अनुबध में परिवर्तन सम्भव है ।

-'लोक का वास्तविक रूप ज्ञात होना कठिन है । न तो इसका कोई प्रारम्भ है, न इसका कही अत है । इसका कोई आधार भी नही है । अश्वत्थ के समान गहरी जडो वाले इस ससार वृक्ष को अपरिग्रह अनासक्ति या वैराग्य के कुठार से बल-पूर्वक काटना है ।'-

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा,
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवाला ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि,
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।
न रूप मस्येह तथोपलभ्यते,
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलं,
असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा । -भगवद् गीता

महाभारत मे भी लोक को वृक्ष की उपमा देकर कहा गया- 'समस्त प्राणियो का निवास यह जगत, पत्र-पुष्पो से सदा सयुक्त ऐसे वृक्ष के समान है जिसमें पाप-पुण्य के फल लगते रहते हैं। यह वृक्ष सदैव स्वत हरा-भरा और शास्वत है। सदा सनातन है और सदा रहेगा।'

सदापर्ण· सदापुष्प·, शुभाशुभ फलोदय,
आजीव्य सर्वभूतानां, ब्रह्मवृक्ष सनातन ।

-महाभारत/अश्वमेध पर्व/35-37-14

-'जन्म-मरण के चक्र मे फँसकर भटकने के लिये तीनो लोक पिजरे के समान हैं। पाप और पुण्य उस पिजरे मे फँसाने वाला जाल है। काल अकेला शिकारी है और सभी जीव उसके शिकार है।'-

तीन लोक है पींजरा, पाप-पुण्य हैं जाल,
सकल जीव सावज भये, एक अहेरी काल ।

लोक की वास्तविकता

दौलतरामजी ने अपने ग्रथ मे लोक भावना की व्याख्या की- यह लोक किसी का बनाया हुआ नही है। कोई इसे धारण भी नही कर रहा। यह छह द्रव्यो के समूह से स्वत अनादिकाल से स्थित है। कभी इसका विनाश भी नही होनेवाला है। इस अनादि-अनन्त लोक मे यह जीव, परिणामो की समता के अभाव मे, अथवा राग-द्वेष-मोह आदि विषमताओ के कारण, तरह-तरह के दुख सहता हुआ, अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। दौलतरामजी ने लोक की परिभाषा की है -

किनहूं न कर्यो, न धरै को, षट्-द्रव्यमयी, न हरै को।
सो लोक माँहिं बिन समता, दुख सहै जीव नित भ्रमता।

छह द्रव्यों का समूह है तीन लोक

यह ससार छह द्रव्यो का समुदाय है ।

पहला द्रव्य **जीव द्रव्य (Soul)** है जो एकमात्र चेतन द्रव्य है ।

दूसरा **पुद्गल द्रव्य (Matter)** है जो जड या अचेतन है ।

तीसरा द्रव्य जीव और पुद्गल दोनो द्रव्यो की गति मे सहायक होने वाला **धर्म द्रव्य (Medium of Motion)** है ।

चौथा द्रव्य जीव और पुद्गल दोनो द्रव्यो की स्थिति मे सहायक होने वाला **अधर्म द्रव्य (Medium of rest)** है ।

पॉचवॉ द्रव्य जीव-पुद्गल और धर्म-अधर्म इन चारो द्रव्यो को स्थान देने वाला, सभी द्रव्यो को अपने मे समाहित रखने वाला **आकाश द्रव्य (Space)** है ।

छठा सभी द्रव्यो के परिणमन मे सहायक **काल द्रव्य (Time)** है ।

इनमे सिर्फ जीव ही चेतन द्रव्य है, शेष सभी द्रव्य चेतना विहीन हैं, जड हैं । सिर्फ पुद्गल ही रूपी है । इसमे रूप-रस-गंध और स्पर्श ये चारो गुण अनिवार्यत. एक साथ पाये जाते हैं । शेष पॉचो द्रव्य अरूपी हैं । उनमे रूप-रस-गध-स्पर्श नहीं होते इसलिये इन्द्रियो के माध्यम से उन्हे जाना नही जा सकता ।

काल को छोडकर शेष पाँच द्रव्य 'बहु-प्रदेशी' होने के कारण इनके समुदाय को 'पच-अस्तिकाय' कहा गया है । काल को एक प्रदेशी होने के कारण 'अस्तिकाय' मे नही गिना गया ।

जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य सख्या में अनन्त हैं । प्रत्येक जीव प्रथक अस्तित्व वाला, एक स्वतत्र और अखण्ड द्रव्य है । पुद्गल अपने सूक्ष्मतम रूप मे परमाणु रूप मे अखण्ड है । अधिक परमाणुओ से मिलकर उसका जो 'स्कध' रूप बनता है, वह खण्डित होकर अुकडो मे बँटता रहता है और अनेक खण्डों के मिलने से बड़ा रूप भी ले लेता है । काल द्रव्य भी अनन्त हैं ।

जीव और पुद्गल कुछ शुद्ध भी हैं, परन्तु ये अधिकाश तो अशुद्ध ही हैं । सभी मुक्त जीव शुद्ध हैं । सभी संसारी जीव अशुद्ध हैं । पुद्गल अपने परमाणु रूप मे शुद्ध और स्कध रूप में अशुद्ध माना गया है ।

स्थूल शरीर, सूक्ष्म-शरीर या सचित कर्मो का समूह, तथा राग-द्वेष-मोह आदि विकारी भाव, यही तीन जीव के साथ लगे हुये मल हैं। इन तीनो से युक्त होकर ससार मे भ्रमण करना जीव की अशुद्धि है। इन तीनो से मुक्त होने पर जीव शुद्ध हो जाता है, तब वह लोक के सबसे ऊपरी भाग मे सदा के लिये स्थित हो जाता है। यही जीव का मोक्ष है।

पुद्गल द्रव्य बार-बार अशुद्ध से शुद्ध और शुद्ध से अशुद्ध होता रहता है परन्तु एक बार शुद्ध हुआ जीव फिर कभी अशुद्ध होकर ससार मे नही आता। शुद्ध जीव के पुन अवतार लेने यानी ईश्वर या लीला-पुरुष बन कर ससार मे लौट कर सासारिक कार्यो मे लगने की कल्पना को जैन दार्शनिको ने स्वीकार नही किया। शेष चारो द्रव्य, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सदा शुद्ध ही है। वे कभी अशुद्ध नही होते।

जीव और पुद्गल, ये दो सक्रिय द्रव्य है। कारण पाकर ये लोक मे सर्वत्र भ्रमण कर सकते है, करते रहते है। शेष चारो द्रव्य निष्क्रिय है। वे सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है, सर्वत्र भरे हुए है। इसीलिये उनके स्थानान्तरित होने का प्रश्न ही नही उठता।

ये छहो द्रव्य सम्पूर्ण लोक मे सर्वत्र व्याप्त है। वास्तव मे इन छह द्रव्यो के समूह का नाम ही ससार है।

ये छहो द्रव्य सत् है, नित्य है और अकृत्रिम हैं। इन्हे किसी ने बनाया नही। ये कभी नष्ट भी नही होगे।

इसलिये जगत भी सत् है। नित्य है और अकृत्रिम है।

इस लोक मे मै अपने अज्ञान के कारण विकारी बना हुआ, चार गतियो की चौरासी लाख योनियो मे, अनादि काल से जन्म-मरण करता भटक रहा हूँ। सभी जीव इसी प्रकार भव-भ्रमण कर रहे हैं।

यदि सवर के द्वारा नवीन कर्मो का आस्रव रुक जाये, और तपस्या आदि प्रयोगो के द्वारा सचित कर्मो का समूह नष्ट हो जाये, उनकी निर्जरा हो जाये, तो यह भव-भ्रमण मिट सकता है।

मोह कर्म ने मेरे स्वाभाविक ज्ञान पर अविद्या का परदा डाल कर उसे विकारी कर रखा है। मै आते हुए कर्मो को रोक नही पा रहा और सचित कर्मो को नष्ट नहीं कर पा रहा। सवर और निर्जरा से मेरा कभी परिचय भी नहीं हुआ। इसीलिये मेरे सचित कर्मो का भार बढ़ता

ही जा रहा है। इन्हीं कर्मों का फल भोगने के लिए मुझे बार-बार जन्म लेना पड़ता है। बार-बार मरना पड़ता है।

भूधरदासजी ने अपने भगवान से कर्मों की शिकायत करते हुए मेरी ही बात तो कही थी।

प्रभु! मैं तो अकेला और असहाय हूँ, इन कर्मों का पूरा व्यूह बना हुआ है। मेरी ज्ञान-सम्पदा लूटकर इन्होंने मुझे निबल और निरुपाय कर दिया है। मेरे और आपके बीच इन्हीं दुष्टों ने दुविधा बना रखी है।

पैरों में पाप और पुण्य की बेडियाँ डालकर, देह के कारागार में, ये कर्म मुझे इतने दुख दे रहे हैं। जिनका कोई अत ही दिखाई नहीं देता।

मैं तो एक अनाथ, ये मिल दुष्ट घनेरे,
कियौ बहुत बेहाल, सुनियौ साहब मेरे।
ज्ञान महा-निधि लूट, रंक निबल करि डार्‌यौ,
इन ही मो-तुम मांहिं, हे प्रभु अंतर पार्‌यौ।
पाप-पुण्य मिल दोय, पॉयन बेड़ी डारीं,
तन कारागृह मांहिं, मोहिं दियौ दुख भारी।

प्रभु तो मेरे भीतर ही बैठा है। मैं ही अपने अज्ञान के कारण उससे दूर भटक रहा हूँ।

धान के पौधे से बीज और बीज से पौधा, जैसे अनादि से निकल रहा है, उसी प्रकार मेरा भी जन्म के बाद मरण और मरण के बाद जन्म का चक्र अनादि से चल रहा है।

एक बार यदि किसी प्रकार धान का छिलका निकल जाए, उसका तदुल अनावरित हो जाए, तो उसकी उत्पत्ति और विनाश का चक्र थम जायेगा। इसी प्रकार यदि किसी तरह मेरी आत्मा पर पडा हुआ मोह का आवरण हट जाए, अविद्या का परदा नष्ट होकर मेरे अंदर की ज्ञान-ज्योति निवारण हो जाए, तो मेरे जन्म-मरण का चक्र भी थम जाएगा।

बहुत हो गया। राग-द्वेष और मोह से प्रेरित होकर अपरिमित काल इस भव-वन में भटक लिया। अब और नहीं। अब तो अज्ञान का अधकार छट रहा है। मुक्ति का मार्ग सूझने लगा है। चलो ठीक है।

जबसे जागे, तभी सबेरा

<u>10 Universe</u>

Vast's the magnitude of the Universe,
The Earth midway-the Heaven and Hell,
Where's the soul from tim's infinite,
Whitehered without a scientific Cell

बाधि दुर्लभ भावना

धन-कन-कंचन-राजसुख, सबहिं सुलभ करि जान,
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान ।

-कविवर भूधरदास

दुर्लभ्य नित्य निगोदसे व्यवहार में है आवना,
दुर्लभ्य इस संसार में है कठिन नर तन पावना ।
दुर्लभ यथारथ ज्ञान, दुर्लभ बोध निज का पावना,
अतएव आतम हित करो, भज नित्य 'बारह-भावना' । -राजधर जी

धन-सम्पत्ति और अन्य सासारिक सुख बहुत दुर्लभ नही हैं ।

मेरी दीर्घकाल की ससार-यात्रा मे मुझे वे सारे पदार्थ, अनेक बार मिले है । परन्तु अपने आपको पहचानने का यथार्थ-ज्ञान मुझे एक बार भी प्राप्त नही हुआ । इस जगत मे निज और पर की सही पहिचान सबसे दुर्लभ है ।

लाखो प्रकार की क्षुद्र योनियो मे मुझे बहुत समय तक जन्म-मरण करना पडा । उस समय मनुष्य का जन्म पाना ही दुर्लभ रहा । कवि दौलतरामजी ने ठीक ही कहा कि-पुण्य योग से यह मनुष्य जन्म मिला भी तो इस पर्याय मे बाल अवस्था तो खाने-खेलने मे ही चली गई । उस समय तो विशेष ज्ञानार्जन की योग्यता ही नही थी । युवावस्था मे मेरी सारी शक्तियाँ साँसारिक विद्याओ के उपार्जन में लगती रहीं । उस समय धन का अर्जन और विषयो के भोग, प्राय यही मेरे प्रमुख लक्ष्य रहे । अब वृद्धावस्था तो रोगो का घर है । इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, तब अपने को जानने का पुरुषार्थ कब होगा ? कैसे होगा ?-

बालपने कछु ज्ञान न लह्यौ, तरुण समय तरूणी-रत रह्यौ ।
अर्द्ध-मृतक सम वृद्धापनौं, कैसें रूप लखै आपनौ ।

-दौलतराम कृत/छहढाला/1-14

इसीलिये सब कुछ सुलभ रहते हुए भी मेरे लिये अपनी पहचान दुर्लभ ही बनी रही। ऐसा यह पहली बार नही हुआ। बार-बार मनुष्य तन पाकर मेरे साथ ऐसा ही हुआ है।

कवि दीपचन्दजी ने कहा- मनुष्य तो क्या, देव-पद पा लेना भी सुलभ है, बार-बार मैने पाया है। धन-धान्य की प्राप्ति भी कठिन नही। परन्तु सम्यग्बोधि, परमार्थ ज्ञान, जो मुक्ति का कारण है, वह बहुत दुर्लभ है-

सबहिं सुलभ या जगत में, सुर नर पद, धन-धान,
दुर्लभ सम्यग्बोधि इक, जो है शिव-सोपान।

-दीपचन्द्रजी/छहढाला

बुधजनजी ने और भी सरल शब्दो मे समझाने का प्रयासकिया ससार चलाने वाली विद्याओ का ज्ञान तो मुझे अनन्त बार हुआ परन्तु जिसमे मेरा वास्तविक कल्याण निहित है, वह आत्म-ज्ञान मुझे एक बार भी नही हुआ। अपना परिचय बहुत कठिन बना रहा -

सब व्यौहार क्रिया कौ ज्ञान, भयौ अनन्ती बार प्रधान।
निपट कठिन अपनी पहचान, जाकों पावत होत कल्याण।

-बुधजन कृत/छहढाला

यथार्थ की परिभाषा-

बोधि-दुर्लभ भावना पर विचार करते समय एक बार यह भी देख ले कि यथार्थ-ज्ञान का स्वरूप क्या है। दुनिया मे हर वस्तु का मूल्य या महत्व, उसके अभिन्न गुणो मे ही मापा जाता है। दूध गाढा हो और सफेद हो यह उसका महत्व नही है। महत्व की बात यह है कि दूध मे ओटाने पर मलाई और दही बनाकर मथने पर नवनीत प्राप्त होना चाहिये। यह न मिले तो दूध की सफेदी और गाढेपन का कोई अर्थ नही।

इसी प्रकार ज्ञान का फल है विराग। ज्ञान की सार्थकता यही है कि उसके आते ही परिग्रह का व्यामोह कम हो और कषायों के बधन कुछ ढीले पडने लगे। यदि ज्ञान के साथ जीवन मे ये दो उपलब्धियाँ नही आई, इतनी पवित्रता नही आई, तो वह ज्ञान यथार्थ भी नही है और मुक्ति के मार्ग मे कार्यकारी भी नही है। वह केवल शाब्दिक ज्ञान है। इसके द्वारा अपने आपको, और दूसरों को धोखा दिया जा सकता है, परन्तु उपकार किसी का नही हो सकता। न अपना, न पराया।

कबीर ने एक जगह कहा- यदि चित्त मे काम, क्रोध, अहकार और लालसा की वासनाए वैसी ही पनपती रही तो विद्वान और मूर्ख मे कोई अन्तर ही नहीं है -

काम, क्रोध, मद, लोभ की, जब लग घट में खान,

कबीर मूरख - पंडिता, दोनों एक समान।

तुलसीदास ने कहा- वही ज्ञानी है, वही गुणी है, उसी का ध्यान सार्थक है और उसी की साधना सफल है, जिस साधक के राग और द्वेष मद हो गये-

सोई ज्ञानी, सोई गुनीजन, सोई साधक, सोई ध्यानि,

तुलसी जाके चित भई, राग-द्वेष की हानि।

ज्ञान के साथ जो यह 'यथार्थ' की शर्त लगी है, इसे कुछ गहराई से समझना होगा। यहाँ यथार्थ का अर्थ मात्र 'वास्तविक' ही नही है, उसके आगे कुछ और है। यथार्थ वह है जो परमार्थ से परिपूर्ण हो। यथार्थ वह है जो सूचनात्मक भर न हो, अनुभव-जन्य भी हो। इसका सीधा अर्थ यह है कि ऊपर से चर्म-चक्षुओ से जो दिखाई दे रहा है, आवश्यक नहीं है कि वह यथार्थ हो। यथार्थ तो हिये की आखो से ही देखा जा सकता है। ऊपर की आखो से दिखना उसकी अनिवार्यता नही।

सूरदास की तो ऊपर की दोनो आखे छिन गई थीं, किन्तु मात्र हिये की ऑखो से उन्होने जितना देखा, उतना बडे-बडे आखो वाले भी कहॉ देख पाते हैं। इसीलिये कबीर ने कहा- उसका अधापन लाइलाज है, जिसकी हिये की ऑखे खुल नही रही हैं और ऊपर की ऑखे लक्ष्य को देख नही पा रही। फिर भले ही वे ऑखे दुनिया की राग-द्वेष मे फॅसाने वाली रगीनियो को, कितनी ही बारीकी से क्यो न देख रही हो। आत्म-कल्याण के मार्ग मे उस दृष्टि का कोई अर्थ नही है -

ऊपर की दोऊ गईं, हिय की गईं हिराय।

कह कबीर चारों गईं, तासों कहा बसाय।

जब कबीर ने किसी अहकारी पंडित को यह कहकर ललकारा होगा कि- *'तू कहता कागद की लेखी, मै कहता आँखन की देखी'* तब भी उनका अभिप्राय हिये की ऑखो से, या अपने अनुभव से ही

रहा होगा। बनारसीदासजी के एक पद मे ऊपर और भीतर की ऑखों का अतर विस्तार से कहा गया है -

भोंदू भाई ! समुझ सबद यह मेरा।
जो तू देखै इन आंखिन सों, ता में कछू न तेरा।

-ओ भोले भाई ! मेरी बात समझने का प्रयत्न कर। ससार मे जो कुछ भी तू इन चर्म-चक्षुओ से देख रहा है, उसमे कुछ भी ऐसा नहीं है जो तेरा अपना हो।

ये आँखें भ्रम ही सों उपजीं, भ्रम ही के रस पागीं,
जहँ-जहॅ भ्रम, तहॅ-तहँ इनकौ श्रम, तू इनही कौ रागी।

-जड और चेतन के सयोग के भ्रम से ही इनकी उत्पत्ति हुई है। ससार मे जहॉ तक इन ऑखो की दृष्टि पहुँचती है, उन सब पदार्थो को ये अवास्तविक, या भ्रम रूप ही देखती है। जैसे का तैसा देखना इनकी आदत ही नही है। चन्द्रमा इन्हे थाली के बराबर दिखाई देता है, जबकि वह पृथ्वी से भी बडा है। आकाश को ये नीला देखती हैं, जबकि वह ऐसा नही है। सूर्य का प्रकाश इन्हे श्वेत दिखाई देता है, जबकि इसमे सातो रगो का अस्तित्व हे।

कहॉ तक गिनाया जाये, ससार मे जहाँ-जहॉ कोई भ्रम है, किसी प्रकार का छलावा है, वही-वही इन ऑखो की टकटकी लगी रहती है। उस पर सबसे बडा दुर्भाग्य यह है कि तू इनके ही राग मे फॅसा हुआ है। इनके निर्णय को ही प्रामाणिक मान रहा है।

ये ऑखें दोउ रचीं चाम की, चामहि चाम बिलोवैं,
ताकी ओट मोह-निद्रा-जुत, सुपन रूप तू जोवै।

-ये दोनो आँखे चर्म की ही बनी हैं न, इसीलिये चर्म को ही देखती हैं। उसी के आधार पर प्राणी की परख करती हैं। इसलिये इन्हे हर कोई गोरा या काला, ऊँचा या ठिगना, सुन्दर या असुन्दर भर दिखाई देता है। हाड-मांस के शरीर की ओट मे जो एक चैतन्य-पुज तू अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ बैठा हुआ है, उसे ये देख ही नही पाती। तू भी मोह-निद्रा के वशीभूत अचेत हुआ, देह और देही को अलग-अलग कहॉ देख पा रहा है। तू भी तो एक स्वप्न की तरह, जैसा ये दिखाती हैं, वैसा ही जान और मान रहा है।

इन आँखिन कौ कौन भरोसौ, ये बिनसैं छिन माहीं,

इनकौ है पुद्गल सों परिचय, तू तो पुद्गल नाहीं।

-भाई, इन चर्म-चक्षुओ का कोई भरोसा नही है। ये तो किसी भी क्षण मुँद जायेंगी। चेतन तत्व से इनका कोई परिचय नही है। ये तो सिर्फ पुद्गल तत्व को, स्थूल शरीर आदि को ही जानती हैं। तू पुद्गल तो नही है। तू तो पुद्गल से एकदम भिन्न, चेतन-स्वरूपी आत्म-तत्व है। फिर इन ऑखो से तू अपने आपको जान पायेगा ऐसी कल्पना ही व्यर्थ है।

तेरे दृग मुद्रित घट-अंतर, अंध रूप तू डोलै,

कै तो सहज खुलैं वे आँखें, कै गुरु संगति खोलै।

-बनारसीदास/अध्यात्म पदावली

-तेरी वास्तविक आँखे तो तेरी ज्ञान-दृष्टि है, जो तेरे भीतर सोई पडी है। उस अपनी ज्ञान-ज्योति से बेखबर तू अधे के समान ससार के दुख उठाता भटक रहा है। कभी ऐसे अनुकूल पुण्य-सयोग मिल गये तो वे हिये की आँखे, सहज ही खुल जायेगी। या फिर सद्गुरु की सगति से तुझे दृष्टि प्राप्त होगी। जैसे भी खुले, परन्तु यह तुझे समझ लेना चाहिये कि वह दृष्टि कही से लाना नही है। दृष्टि-सामर्थ्य तो तेरी अपनी सम्पदा है। केवल मोह और राग-द्वेष के अधकार के बीच से उसे जाग्रत करना है। प्रयत्न करेगा तो एक दिन वह ज्ञान-ज्योति तेरे भीतर अवश्य प्रज्वलित होगी। तेरी भयानक भव-निशा का वही मगल-प्रभात होगा।

इससे विलग कवि ने हिये की ऑखो को लेकर एक अन्य पद मे लिखा-भाई! हिये की आँखे वे हैं जो अपनी शास्वत सुख-सम्पदा को निहारती हैं और भ्रम उपजाने वाली ऊपरी चमक-दमक को नकारती हैं। वे ऑखे केवलज्ञानी परमात्मा द्वारा प्रसारित वाणी का स्पर्श करके, समता के अमृत-रस की वर्षा करती हैं। यही वे नेत्र हैं जिनके द्वारा परमार्थ का दर्शन करके जीव अपना जीवन सार्थक कर लेता है।-

भोंदू भाई, ते हिरदे की आंखें।
जे करषें अपनी सुख सम्पत्ति, भ्रम की सम्पत्ति नाखें।
जे आँखें अमरत-रस बरसें, परसें केवलि वानी,
जिन्ह आँखिन बिलोकि परमारथ, होहि कृतारथ प्रानी।

-जिन ऑखो से आत्मा और अनात्मा का भेद पाकर, तथा अपने शास्वत गुणों को निरख कर, ज्ञानी जन आत्मज्ञान का चिन्तवन करते हैं, जिन ऑखो से अपने चिदानन्द चैतन्य का स्वरूप देखकर मुनिजन ध्यान और धारणा प्राप्त करते हैं, और जिन आँखो का विमल प्रकाश इन चर्म-चक्षुओ की विषमता समाप्त करके इनमे भी समता की ज्योति जला देता है, ये वही हृदय की आँखे है।-

जिन आँखिन सौं निरखि भेद-गुन, ज्ञानी ज्ञान विचारैं
जिन आँखिन सौं लखि स्वरूप, मुनि ध्यान धारणा धारैं।
जिन आँखिन की ज्योति प्रकट कैं, इन आँखिन में भासै,
तब इनहूँ की मिटै विषमता, समता रस परगासै।
भोंदू भाई, ते हिरदे की आंखें।

-बनारसीदास/अध्यात्म पदावली

वास्तव मे राग-द्वेष-मोह का आवरण, या अविद्या का परदा, ससार पर नही पडा है। परदा तो अपनी दृष्टि पर पडा है, उसे ही हटाना है। ज्ञान के अधकार मे ऑखे तो अपनी ही बद है। सद्गुरु की कृपा से जब कभी ज्ञान की अजन-शलाका का स्पर्श हो जाये, तभी वह नेत्रोन्मीलन सहज-सम्भव हो सकता है। इसीलिये गुरु की स्तुति मे हम पढते हैं -

अज्ञान तिमिरान्धानां, ज्ञानांजन शलाकया,
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरुवे नम.।

एक शायर ने बडी खूबी के साथ कहा- मनुष्य को अपनी दृष्टि पर पडा हुआ परदा हटाना चाहिये। फिर उसके लिये ससार मे कुछ भी रहस्यमय नही रह जायेगा। सारे रहस्यो पर से परदा उठ जायेगा। सब कुछ अपने वास्तविक रूप मे उसके समाने होगा -

उठा सके आदमी तो पहले, नजर से अपनी, नकाब उठाये,
जमाने भर की तजल्लियों से, नकाब उलटी हुई मिलेगी।

एक और मित्र ने कहा- भ्रम का अस्तित्व है कहाँ ? जब वास्तविकता को हम दृष्टि से ओझल कर देते हैं, तभी बहुत से भ्रम पैदा हो जाते हैं। पुष्प से दृष्टि हटने पर ही कण्टको का अस्तित्व भासित होता है- दृष्टि यदि फूल पर एकाग्र हो तो बुलबुल को काँटो का भय होना ही नहीं चहिए।

वजूदे-खार क्या है, गुल का नजरों से फिसल जाना,
वगरना आँख में बुलबुल की ये काँटा निहाँ क्यों हो ।

चतुर्गति के परिभ्रमण मे तरह-तरह के दुख उठाते हुए इस बार मुझे उत्तम मनुष्य भव मिला है । मेरा शरीर भी बहुतेरे लोगो की अपेक्षा स्वस्थ्य और सबल है । मेरी इन्द्रियाँ और मन-मस्तिष्क भी काम कर रहे हैं । सौभाग्य से आत्मा और परमात्मा के बारे मे सोचने की रुचि भी मेरे भीतर जागी है । ये सारे सयोग एक साथ मिलना बहुत कठिन होते है । थोडे ही समय मे ये सभी सयोग स्वय बिखर जाने वाले हैं । ससार का यही नियम है ।

ऐसा दुर्लभ अवसर पाकर इसे व्यर्थ नही खोना है । राग-द्वेष के सस्कारो को दबाकर मुझे अपने भीतर यथार्थ-ज्ञान की प्यास जगाना चाहिये, बार-बार उसका ही चिन्तवन करना चाहिये ताकि सिर्फ इस भव मे नही, अगले जन्मो मे भी वही सस्कार मेरे साथ रहे । यही बोधि-दुर्लभ भावना का अभिप्राय है ।

11. The rarity of acquiring Enlightenment

Wealth, gold and the rule,
All are easy to gain,
Hard it's to get in the World.
A Scientific mind with a Scientific reign.

१२

धर्म भावना

जाँचे सुरतरु देय सुख, चिन्तन चिन्ता रैन,
बिन जाँचैं, बिन चिन्तयें, धर्म सकल सुख दैन।

-कविवर भूधरदास

स्व-स्वभाव ही तो आत्मा का, श्रेष्ठ सुन्दर धर्म है,
औपाधि-भाव प्रबल कराता, आत्मा से कर्म है।
तज कर्म-कारण, जीव स्व-स्वभाव में ही लीन हो,
तज कर समस्त विभाव, निज सुख में सदा लवलीन हो। -राजधर जी

ससार मे धर्म ही सुख प्राप्ति का उपाय है। धर्म मेरा अपना स्वभाव है, इसलिये वह मेरे भीतर है। उसे मेरे ही कुसस्कारो ने, और वासनाओ ने, वर्तमान मे विकारी कर रखा है। इन विकारो के विलीन होते ही वह स्वत प्रकट होगा। वह सहज-स्वभाव, या सहज-धर्म, मुझे सुख देने वाला है, सुख का भडार है और सुख रूप ही है।

वैसे तो जीवो की मनोकामना पूरी करने वाले बहुतेरे पदार्थ जगत मे हैं, परन्तु उनसे याचना करने पर ही कुछ मिलता है। मैंने सुना है कि पहले कल्प-वृक्ष हुआ करते थे। मन मे कल्पना करते ही उनसे मनचाहे पदार्थ मिल जाते थे। किसी-किसी के पास चिन्तामणि रत्न हुआ करता था, जिसके सामने चिन्तन करने से अभीष्ट पदार्थ प्राप्त हो जाता था। हो सकता है कि ऐसा होता रहा हो, परन्तु मनुष्य को अपनी आकॉक्षा की पूर्ति के लिये याचक तो बनना ही पडता था। माँगे बिना ससार मे कभी किसी को, किसी से, कुछ नही मिलता। लोक मे प्रसिद्ध है कि माँ अपने शिशु को भी जब तक वह रोकर अपनी याचना व्यक्त न करे, दूध नहीं पिलाती।

मै भी अनादिकाल से अपनी आकाँक्षाओ की पूर्ति के लिये, न जाने कहाँ-कहाँ हाथ फैलाता रहा। किस-किस से याचना करता रहा। परन्तु मुझे तृप्ति तो कहीं नही मिली। मेरी एक पीडा और रही।

याचना करने पर जब, जो भी प्राप्त हुआ, वह क्षणिक ही रहा । उन पदार्थो के मम्पर्क से मेरी प्यास क्षण भर को घटी अवश्य, पर कभी समाप्त नही हुई । दूसरे ही क्षण वही अतृप्ति, उसी पदार्थ की आकॉक्षा, दूने-चौगुने वेग के साथ मुझे पुन पुन सतप्त करती रही । इन अमिट पिपासा के कारण मै हर जन्म मे प्यासा ही बना रहा ।

आज ससार के यथार्थ स्वरूप की अवधारणा होने पर मुझे यह निश्चय हुआ कि जगत मे जीवो को तृप्ति कही नही है । तृप्ति, सतोष और सुख यदि किसी को मिल सकता है तो वह धर्म की शरण मे ही सम्भव है । धर्म ही एक ऐसा तत्व है जो ससार के प्रत्येक प्राणी को शास्वत सुख प्रदान करता है । धर्म आत्मा का अपना स्वभाव है । वह तो आनन्दमय ही है । धर्म के साथ जीवन मे सुख और सतोष की उपलब्धि, आनन्द का आगमन, वैसा ही निश्चित है जैसा सूर्य के साथ प्रकाश का । उसके लिये कोई याचना नही करनी पडती । वह तो याचना और चिन्ता के अभाव मे ही प्रगट होता है ।

धर्म भावना पर विचार करते समय, आईये एक बार यह विचार करे कि हमारे जीवन मे धर्म की आवश्यकता क्यो है ?

हम जीवन मे जो कुछ भी करते हैं, वह तीन शक्तियो के माध्यम से ही करते हैं, मन, वाणी और शरीर । चाहे हम शुभ कार्य करे या अशुभ, चाहे पुण्य करे या पाप, उन्हे करने के साधन ये तीन ही है । पाप के कार्यो से हमारा अपना अहित तो होता ही है, दूसरो का भी अनिष्ट होता है । हमारी करनी का प्रतिफल हमारे परिवार को, हमारी समाज को और हमारे राष्ट्र को भी प्रभावित करता है ।

सूक्ष्मता से विचार करे तो हम पायेंगे कि एक व्यक्ति की करनी से, कुछ सीमा तक, पूरी मानवता प्रभावित होती है । यह प्रतिक्रिया अस्वाभाविक नही है, क्योंकि व्यक्तियो के समूह से ही समाज और राष्ट्र बने है । इस दृष्टि से हमारे अपने कल्याण के लिये, तथा समाज, राष्ट्र और पूरी मानवता के हित के लिये, यह आवश्यक है कि हमारे मन-वचन-काय की प्रवृत्तियाँ निर्दोष हो । वे किसी के लिये भी हानिकर न हो ।

सभ्यता ने हमे इस दिशा मे कुछ पाठ पढाये है। यदि हम वाणी के माध्यम से कोई अवाँछित कार्य करते हैं तो हमारी सभ्यता या हमारा समाज हमे रोक लेता है। शरीर के द्वारा कोई समाज-विरोधी, या अनैतिक आचरण हम करते हैं तो राष्ट्र के नियम-कानून हमे रोक देते हैं, परन्तु हमारा मन जो निरन्तर अनगिनते अपराध करता रहता है, उसे रोकने वाला कोई नही है। मानव-मन की सारी दुष्प्रवृत्तियाँ वर्तमान सभ्यता के अनुशासन से सर्वथा अछूती रह जाती हैं। सोसाइटी और समाज, पुलिस और कानून, किसी मे भी ऐसी सामर्थ्य नहीं है जो हमारे मन पर नियत्रण रख सके। धर्म मे वह सामर्थ्य है। मन पर लगाम, लगाना उसे सयत करके अनुशासन मे लाना, धर्म का ही काम है। बस यही से हमारे जीवन मे धर्म की उपयोगिता प्रारम्भ हो जाती है।

कच्चे घर के ऑगन मे उगे हुए अकुर को बहुत आसानी से उखाडकर नष्ट किया जा सकता है। परन्तु कालान्तर मे वही अकुर जब गहरी जडो और मजबूत तने वाला वृक्ष बन जाता है तब शक्ति लगाकर भी उसे निर्मूल करना आसान नही होता। कई बार तो फिर वह वृक्ष घर की दीवार को ही ले बैठता है। मन के विकार भी ऐसे ही है। वे अकुर की तरह छोटे रूप में पैदा होते हैं। यदि उसी समय उन्हे उखाड फेकने का उपाय नही किया गया तो वे बढते जाते हैं।

समय पाकर मन के वही छोटे-छोटे विकार जब वाणी और शरीर के स्तर पर प्रगट होते हैं, तब तक बहुत विलम्ब हो चुका होता है। फिर उन्ही मानसिक दुष्प्रवृत्तियो से समाज और राष्ट्र का ऐसा अहित होता है जिसके कारण पूरी मानवता सकट मे पड जाती है। आज हमारे आस-पास, चारो ओर दिखाई देने वाली हिंसा, अराजकता, आतंकवाद और आत्मघात, सब उन्ही मानसिक विसगतियो के दुष्परिणाम है। अश्रुगैसो, लाठियों और गोलियो से उन दुष्प्रवृत्तियो का शमन करने की बात उतनी ही निरर्थक है जितनी ऊपर से मरहम लगाकर देह के भीतर पनप रहे कैन्सर को दूर करने की आशा करना।

धर्म के प्रकाश मे, स्थिर-चित्त होकर, प्रतिदिन अपने आपको भीतर से देखने-सम्हालने की बुद्धि जिन्हें मिलती है, प्रतिदिन

आत्मावलोकन की कला जिनके पास है, उनके मन मे विकारो के अकुर प्राय पनपने से पहले ही निर्मूल हो जाते हैं। यही तो रहस्य है कि धर्म से जिसका परिचय हो गया, उसके जीवन मे पवित्रता आ जाती है।

इसके विपरीत, धर्म की किरणों से जिसका अतर प्रकाशित नही है, उसके भीतर, मोह के अधकार मे, कषायो और वासनाओ की जडे गहरी पैठती जाती हैं। उनकी शक्ति बढती जाती है। फिर धीरे-धीरे वे कच्चे घर की दीवार की तरह, पूरे व्यक्तित्व को आत्मसात् करके विषमय बना देती हैं। तब अपनी चेतना को, और विकारों को, अलग-अलग पहचानना भी कठिन हो जाता है। दोनो की सत्ता बिलकुल एकमेक दिखाई देने लगती है। यह सब एक दिन मे, या एक जन्म मे नही होता। जन्म-जन्म की वासनाए इस विष-वृक्ष का पोषण करती है। राग-द्वेष की अविच्छिन्न धारा इसे सीचती है, और अविद्या के हठाग्रही सस्कार इसका सरक्षण करते रहते हैं।

अपनी इस विकार अवस्था का विश्लेषण करके, उसमे भी अपनी सहज चेतना को पृथक अनुभव करना बडे कौशल का काम है। उसके बाद विकारो को निर्मूल करते हुए, अपने अतर की विशुद्धि को बढाना सच्ची साधना है। धर्म का सहारा लिये बिना यह कभी सम्भव ही नही है, क्योंकि आत्म-सयम, या आत्म अनुशासन धर्म की ही विशेषता है। धर्म के बिना किसी प्रकार भी अभ्यतर का शुद्धीकरण प्रारम्भ नही होता। इसीलिये इस अतिम भावना मे कहा गया कि जो अविनाशी सुख इस जगत मे किसी को, कभी, कही प्राप्त नही हुआ, वह धर्म के द्वारा ससार के हर प्राणी को, सहज ही उपलब्ध हो सकता है।

वास्तविकता तो यह है कि इन्द्रियो को लुभाने वाले जिन पदार्थो मे, या जिन क्रियाओ मे हमने सुख मान रखा है, उनमे सुख है नही। वह तो अल्पकाल के लिये हमें भरमाने वाला 'सुखाभास' है। विषय-वासनाओ से मिलने वाले सुख अत मे दुख-स्वरूप है और आगामी काल के लिये दुख की ही जड हैं। एक कवि ने ठीक ही कहा है- जिस सुख को तू सुख मान रहा है, वह सुख नही है। वह तो नाशवान होने से दुख रूप है और दुख का मूल ही है। जो विनश्वर हो वह सुख कैसे हो सकता है ?

जा सुख कों तू सुख कहै, सो सुख तो सुख नाहिं
ये सब सुख, दुख-मूल हैं, सुख अविनासी आहि । -भगवती दास

धर्म की परिभाषा इतनी ही है कि वह सबको, सदा के लिये सुखी करने की सामर्थ्य रखता हो । कुछ जीवों को, कुछ समय के लिये, सुख का आभास दिलाने वाला साधन चाहे जो भी हो, वह धर्म कदापि नहीं हो सकता । लगभग दो हजार वर्ष पूर्व यह परिभाषा इन शब्दो मे बाँधी गई- 'मै तुम्हे धर्म की प्राप्ति का उपाय कहूँगा । वह धर्म जो समस्त कर्मो का निवारण करके, जीवो को उत्तम-स्थायी सुखो तक पहुँचाने की सामर्थ्य रखता है'-

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम्,
संसार दुःखत सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे । -आचार्य समतभद्र

निष्कलक श्रद्धा, निर्दोष ज्ञान और निष्पाप आचरण को धर्म कहा गया है । दूसरे शब्दो मे विकारो से पृथक मेरा स्वाभाविक अस्तित्व ही धर्म है । दौलतरामजी ने कहा- मानसिक विकारो से रहित जो श्रद्धा-ज्ञान और आचरण हैं, वही धर्म है । उसे प्राप्त करने पर ही जीव को अविनाशी सुख की प्राप्ति हो सकती है-

जे भाव-मोह तैं न्यारे, दृग-ज्ञान व्रतादिक सारे,
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै । -छहढाला/5-14

यदि धर्म मेरा स्वभाव है तो वह मेरे भीतर ही प्राप्त होना चाहिए, बाहर उसकी तलाश कैसे सार्थक हो सकेगी । तभी तो बुधजन जी ने कहा- 'अपनी आस्था, अपना स्वभाव ही धर्म है । दुनिया के सौजन्यपूर्ण व्यवहार, घाट-घाट का स्नान, दान-दक्षिणा, ये सब किसी शरीर-शुद्धि के कार्य हो सकते हैं, पर धर्म इनसे अलग कुछ और ही तत्व् है । भाई, गुरु की शिक्षा पर ध्यान दे, और अपनी आत्मा में, आत्मा का हित करने वाले धर्म की तलाश कर-'

धरम स्वभाव आप सरधान, धरम न शील, न न्हवन, न दान ।
बुधजन गुरु की सीख विचार, गहौ धरम आतम हितकार । -छहढाला

भूधरदासजी ने कहा- दस लक्षणों से निरूपित किया जाने वाला धर्म परम पवित्र है, सुख को देने वाला है, जन्मान्तरों तक साथ

जाने वाला है और अमिट, अविनश्वर है। दुर्गति मे पडे जीव को हाथ पकड कर ऊपर निकालने वाला, स्वर्ग और मोक्ष दिलाने वाला यह धर्म ही है। कवि ने पार्श्व-पुराण मे लिखा -

दुर्लभ धर्म दसांग पवित्त, सुख-दायक, सहगामी, नित्त,
दुर्गति परत यही कर गहै, देय सुरग, सिव-थानक लहै।

धर्म के वे दस लक्षण कौन से हैं ? मेरे जीवन मे किन उपायो से उनकी अवतारणा हो सकती है ? वह धर्म कब मेरे जीवन को पवित्र करेगा ? आइये इन प्रश्नो पर विचार करे।

धर्म के दस लक्षण

'वत्थु सहावो धम्मो'- वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। इस परिभाषा के अनुसार मेरा अपना स्वभाव ही मेरा धर्म है। क्षमा, मृदुता सरलता, पवित्रता, स्वाधीनता और शान्ति, ये सब मेरे स्वभाव हैं, अत इन सबको धर्म कहा जा सकता है।

गीता मे धर्मी पुरुष के लक्षण इस प्रकार से कहे गये हैं- भय, क्रोध, अभिमान, बैरभाव और मद के अभाव मे, बाह्य और अतरग शुद्धिपूर्वक, इन्द्रिय-दमन, ज्ञान-ध्यान-दान-तप और स्वाध्याय से उपार्जित- क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्य, तथा-जीव-दया, अहिंसा, अनासक्ति, धैर्य और शान्ति, ये सब दैवी-सम्पदा से सम्पन्न पुरुष के लक्षण हैं। ये सभी मानवता की सहज-स्वाभाविक सम्पदाये है।

अभयं सत्वसंशुद्धि ज्ञानयोगव्यवस्थिति
दानं दमश्च, यज्ञश्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग शान्तिरपैशुनम्
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।
तेजः क्षमा धृति· शौचमद्रोहो नातिमानिता
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत। -भगवत् गीता/16/1-3

जैन संतो ने दस लक्षणों के माध्यम से धर्म को परिभाषित किया है। क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच, सत्य, सयम तप और त्याग, तथा आकिचन्य और ब्रम्हचर्य। इन्हे हम अपनी आत्मा की निधियाँ भी कह सकते हैं। ये विभाव से स्वभाव की ओर हमारी यात्रा के पडाव हैं।

१. **क्षमा** : भीतर और बाहर जब कोई शत्रु दिखाई न दे, तब क्षमा की अनुभूति होती है। पर मे भूल देखने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है। जब स्वय की भूल समझ मे आने लगती है तब क्षमा का उदय होता है। क्रोध मेरी चेतना मे पित्त के समान अतर्दाह देने वाला विकार है। यह मेरी आत्मा मे ऐसा क्षोभ पैदा करता है जिससे बाहर-भीतर सब कुछ प्रदूषित हो जाता है। क्रोध के अभाव मे प्रगट होने वाला मेरा अपना सहज-स्वभाव ही क्षमा है।

२ **मार्दव** : अहकार अविद्या का पोषक है, मार्दव विनय का नाम है। विनय से ही स्व-पर का विवेक उदित होता है और आत्मकल्याण का मार्ग प्रकाशित होता है। मान से विरक्ति ही मार्दव है। मान के अभाव मे प्रगट होने वाला मेरा अपना सहज-स्वभाव ही मार्दव है। मान मेरी चेतना मे धनुर्वात-टिटनस की तरह अकडन पैदा करने वाला विकार है। इसके प्रकोप से मेरी भाव-भूमि तो कठोर होती ही है, मेरे सिर, गर्दन वगैरह अग भी अकड जाते है। मेरा विवेक तिरोहित हो जाता है।

३. **आर्जव** : माया के अभाव मे प्रकट होने वाला मेरा अपना सहज-स्वभाव ही आर्जव है। माया अविद्या की जन्म-भूमि, अपयश का घर, और पाप-पक की खाई है। छल-कपट इसी के बेटे हैं जो मुझे सदा दुर्गतियो मे ढकेलते रहते हैं। इस दुर्जन-परिवार को अपने व्यक्तित्व मे से बिदा कर देना ही आर्जव है।

माया मेरी चेतना को गठिया वात की तरह पगु कर देने वाला विकार है। मायाचारी के साथ मानसिक पगुता प्रगट होती है। इसके रहते पवित्रता की दिशा मे मेरा पग उठता ही नही। जिस प्रकार वात-विकार की छाया मे चौरासी प्रकार के रोग पनपते हैं, उसी प्रकार माया के सरक्षण मे चौरासी लाख योनियो मे भटकाने वाले पाप पनपते रहते हैं।

४. **शौच** : लोभ के अभाव मे प्रगट होने वाली मानसिक शुद्धि मेरा अपना स्वभाव है, यही शौच धर्म है। लोभ के रहते सतोष का उदय नही हो सकता। जब तक पर की लालसा दूर न हो तब तक मेरे गुणो की सम्पदा का मुझे भान भी नही होने पाता। चित्त मे सतोष आने पर शौच धर्म प्रगट होता है। इसी के साथ आत्मा मे अनेक गुण स्वतः प्रगट हो जाते है।

लोभ या लालच मेरी चेतना मे कफ की तरह जकडन पैदा करने वाले विकार है। जैसे कफ मनुष्य को अतिम सॉस तक कष्ट देता है, उसी प्रकार लोभ भी मुक्ति-यात्रा मे बहुत दूर तक साधक को त्रस्त करता है। इसकी जकडन से निकल पाना सबसे कठिन है।

५. **सत्य** · शरीरादि से प्रथक, तथा राग-द्वेष आदि मानसिक विकारों से भी प्रथक, आत्मा का साक्षात्कार करना सबसे बड़ा सत्य है। हित, मित और प्रिय वाणी का प्रयोग सत्य-वचन है। अहितकर, अमित और अप्रिय वचन-प्रयोग से बचना भी सत्य की उपासना है।

६. **संयम** : जीव-हिसा से रहित तन की प्रवृत्ति, और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारो से रहित मन की प्रवृत्ति ही सयम है। संयम के कूल-किनारो मे बँधकर प्रवाहित होने पर ही, मेरी शक्तियाँ, अपने लिये स्वाधीनता और लोक के लिये कल्याण का सृजन कर सकती हैं।

७. **तप** : इच्छाओ को सीमित करना, उन पर अकुश लगाकर उन्हे शुभ की ओर प्रवर्तित करना तप है। मन-वाणी और शरीर को एकाग्र करके आत्म-चिन्तन करना तप है। विषय-लोलुपता त्यागकर ज्ञान और ध्यान की अराधना तप है। विनय, सेवा स्वाध्याय, और उपवास तप है। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन को जलाती है, उसी प्रकार तप की अग्नि कर्म के ईंधन को जला देती है।

८. **त्याग** : पर को पर जानकर उससे ममत्व भाव तोडना त्याग है। मिथ्या-श्रद्धान, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हर्ष-विषाद ये सब चेतना को प्रदूषित करने वाले अतरग परिग्रह हैं। बाहर से बाँधने वाला चेतन और अचेतन परिग्रह अनेक प्रकार का है। जब तक आत्मा की चर्चा अच्छी नहीं लगेगी, जब तक मै परिग्रह की सेवा-सम्हाल मे लगा रहूँगा, तब तक मुझे अपनी सेवा-सम्हाल का कोई अवसर ही नहीं मिलेगा। बाहरी और भीतरी दोनो प्रकार के परिग्रह से मूर्च्छा तोडना त्याग है।

९. **आकिंचन्य** : समस्त बाह्य-अभ्यंतर परिग्रहो से रहित और क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य आदि निज गुणों से सहित, अपनी परिपूर्णता का गौरव आकिंचन्य है। पर मे एकत्व की तल्लीनता को त्याग कर अपने आप में लीन हो जाना आकिंचन्य है।

१० **ब्रह्मचर्य** शील की आराधना करते हुए अपने शुद्ध-बुद्ध ब्रह्म मे रम जाना ब्रह्मचर्य है। पर की आसक्ति के अभाव मे प्रगट होने वाला 'शील' मेरा अपना स्वभाव है।

इस प्रकार धर्म के ये लक्षण कोई बाहरी तत्त्व नही हैं। विकारो के अभाव मे स्वत प्रगट होने वाली आत्म-शक्तियॉ ही धर्म कही गई हैं। कवि द्यनतरायजी ने दस धर्मो का अच्छा वर्गीकरण किया। उन्होंने कहा-

उत्तम छिमा, मारदव, आरजव भाव हैं,
सत्य शौच, संयम, तप-त्याग उपाव हैं।
आकिंचन - ब्रह्मचर्य धरम दस सार हैं,
चहुँगति दुख तैं काढ़ि मुकति करतार हैं।

क्षमा-मार्दव और आर्जव तो मेरे निज के भाव है। सत्य-शौच-सयम-तप और त्याग, ये सब धर्म की प्राप्ति के उपाय है, और आकिचन्य तथा ब्रम्हचर्य दस धर्मो का सार है। चारो गतियो के दुखो से उबार कर मुक्ति का अनन्त सुख दिलाने की सामर्थ्य इस धर्म मे ही है।

भावनाओं के चिन्तन से ये निष्कर्ष निकलते हैं-

- *नश्वरता, अनित्यता या क्षण-भगुरता ससार का स्वभाव है।*
- *जीव को मरण के भय से बचाने-शरण देने वाला यहाँ कोई नही है।*
- *सब ओर से सुखी कोई नही है, कुछ न कुछ दुख सबके साथ लगा है।*
- *जन्म के पूर्व और मरण के उपरान्त दुख भोगते समय मै अकेला ही हूँ।*
- *शरीर व्याधियो का घर है, इसे साधना मे लगाना ही बुद्धिमानी है।*
- *मोह-निद्रा मे सुध-बुध खोकर मैं कर्मो के द्वारा ठगा जा रहा हूँ।*
- *सद्गुरु की कृपा से विवेक जाग्रत होने पर यह बरबादी रुक सकती है।*
- *तब पुरुषार्थ के द्वारा मै अपने सचित कर्मों का भी नाश कर सकता हूँ।*
- *लोक मे अज्ञान वश मैं अनादिकाल से जन्म-मरण के दुख भोग रहा हूँ।*
- *ससार मे सब सुलभ हो जाये पर, यथार्थ ज्ञान मिलना बहुत दुर्लभ है।*
- *धर्म ही जीव को दुखो से छुडाकर सुख की ओर ले जा सकता है।*

मै स्वयं ही अनुभव करता हूॅ कि ससार की यही वास्तविकता है। मै सुखी तो नही हूँ, बार-बार दुखो की पीडा मुझे झेलनी ही पडती है। किसी प्रकार दुख उपजाने वाले कारणो का यदि अभाव हो सके तो मेरे दुखो का निवारण हो सकता है। मै स्वभाव से आनन्द-धाम, अविनाशी और अजर-अमर आत्मा हूॅ। यदि मेरा सकल्प दृढ रहे तो, अपने कर्तव्यो का निर्वाह करते हुए भी, मै आनन्द-प्राप्ति की दिशा मे अपनी यात्रा प्रारम्भ कर सकता हूॅ।

एक ही उपाय : अंतिम और अचूक

अपने निजी कुरुक्षेत्र को सुलगने से बचाने का एक ही उपाय है। जन्म-जन्मान्तर मे इस महाज्वाला से बचने के लिये मैंने बहुतेरे उपाय करके देख लिये परन्तु यह उपाय मुझसे नही बन सका, इसलिये मै सुखी नही हो सका। मुझे वास्तविक और अविनाशी सुख-शान्ति की उपलब्धि नही हो सकी। अब सृष्टि का सर्वोच्च पद, यह मनुष्य जन्म मुझे मिला है। अँजुरी के पानी की तरह वह एक-एक सास करके खिरता जा रहा है। प्रति-क्षण मेरा 'नित्य-मरण' हो रहा है। वह दिन, या वह क्षण धीरे-धीरे पास सरकता आ रहा है जब मेरी इस यात्रा का विराम स्थल सामने होगा। चिन्ता की बात यह है कि इस सबके बाद भी मुझे यह रहस्य समझ में नहीं आ रहा कि-

धारण कर लूँ जितना, उतना भर अपना है,
जोड़कर धरा है जो, वह सब तो सपना है।

मन के महासमर को रोकने का यह अतिम अवसर है। आकाँक्षाओ, लिप्साओ और बैर-विरोध की टकराहट से अपने आपको बचाने का धर्म ही अंतिम उपाय है। वही इस भव-रोग का अचूक इलाज है। अपने आपको जानकर, ससार की वास्तविकताओं से परिचित होकर, स्वय को उससे पृथक अनुभव करना, अपने आपको उपलब्ध हो जाना ही मेरा वास्तविक गंतव्य है।

ससार के जाल से डरने का कोई कारण नहीं है। जन्म-जन्म मे कमाये हुए अपने संचित कर्मों के भार से घबराने की आवश्यकता नहीं है। वे सब तो अपने मानसिक विकारो के माध्यम से मैंने ही बाँधे थे।

अपने अतस् को पवित्र करके मैं उन सारे कर्मो को, सारी वासनाओ को, अल्प काल मे दग्ध भी तो कर सकता हूँ ।

मुझे पेरने वाली माया मेरे ही मन से तो उपजी है । अपना यह दुखद ससार मैंने स्वय ही तो सिरजा है । ज्ञान के भेदक प्रकाश से मैं उस मन की माया का तिमिर चीर सकता हूँ । साधना की अग्नि से मै स्वय अपने रचे हुए उस ससार को भस्म कर सकता हूँ । इस उत्क्रान्ति के लिये सारे साधन मुझे इस जन्म मे प्राप्त हुए हैं । केवल सकल्प की कमी है ।

महावीर की प्रेरक वाणी, बुद्ध की सरस साधना और वासुदेव की वात्सल्य भरी टेर, जो मेरी हताशा को तत्काल दूर कर सकती है, मेरे कानों मे गूँज रही है । सतो की वाणी पग-पग पर मुझे सावधान कर रही है । मौत की दस्तक सुनाई दे उसके पूर्व क्या मुझे इन महान मनीषियो के हितकर परामर्श सुनने और मानने का अवसर नही निकालना चाहिये ?

आज मेरी चेतना कात्म-केन्द्रित है । मेरा अपना अनुभव मेरा मार्गदर्शन कर रहा है । कितने बार जन्म-मरण करते हुए आज मनुष्य भव की सर्व शक्तिमय पर्याय मुझे मिली है । मन के विकारो को जीतने के लिये विजय अभियान का यह अतिम अवसर है, जब तक मेरी इन्द्रियॉ साथ दे रही है तब तक मुझे मनुष्य होने का लाभ उठा लेना चाहिये । इसे चूकना नही है ।

मुझे वह करना ही है, मै अवश्य करूँगा, करके रहूँगा ।

12. Dharma (Law)

Delight in the result when pray thou master.
And dejection is the fruit when anxiety thy fate,
Whence no ye beg, not in an anxious mood,.
'FREEDOM' is sure throuth the Scientific gate'

आपकी अनुभूति

—'मानवता की धुरी' पढ़कर अच्छा लगा। गागर में सागर भरने की उक्ति इस पुस्तक में चरितार्थ हुई है। वर्तमान समय में मानव-मूल्यों का चिन्तनीय ह्रास हुआ है। भारतीय संस्कृति को कभी संसार में आदर्श माना जाता था। अब यह देश विघटन के कगार पर खड़ा है। जीवन के उदात्त-तत्त्व, सत्य, अहिंसा, समवाय और परोपकार, भुला दिये गये हैं। उनका स्थान हिंसा, द्रोह और शुद्ध-स्वार्थ ने ले लिया है।

'मानवता की धुरी' में आपने उन जैन तथा जैनेतर सिद्धान्तों की व्यावहारिकता पर बल दिया है, जो देश-काल की सीमाओं से परे हैं। उनका अवलम्बन वर्तमान स्थिति में निश्चित ही श्रेयस्कर होगा।

इस समय इस प्रकार के साहित्य की बड़ी आवश्यकता है। उससे भी अधिक यह आवश्यक है कि लोग ऐसी पुस्तकों को पढ़ें और अपने कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र को पतन के कगार से उबारें। आपकी यह पुस्तक विश्व-कल्याण के लिये एक प्रकाश-स्तम्भ की तरह है।

—प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी
निवर्तमान विभागाध्यक्ष, सागर विश्वविद्यालय, सागर

'मानवता की धुरी' पर अपने विचार कैसे व्यक्त करूं? आपकी लेखनी का यह अजस्र-प्रवाह वास्तव में ज्ञान की वह मदाकिनी है जिसमें बार-बार डुबकी लगाने का मन होता है। दर्शन-शास्त्र की बारीकियों को आपने बड़े सुन्दर ढग से समझाया है।

अन्तिम दो अध्याय—'विराट् का दर्शन, दृष्टि की महत्ता' और 'भावना भव-नासनी, द्वादस-अनुप्रेक्षा' मुझे बहुत ही अच्छे लगे। कई प्रसग और उपदेश तो ऐसे लगे जैसे मेरे गुरु स्वामी बालानन्दजी स्वयं बोल रहे हों। 'अपरिग्रह' की इन पंक्तियों ने मुझे बहुत प्रभावित किया कि—"आज भी पैसे से तृप्ति, सतोष, भूख, स्वास्थ्य और आनन्द नहीं खरीदा जा सकता।"

—चतुर्भुज नेवटिया
बैले-वियु अस्पताल, कलकत्ता